वर्ष ४
अङ्क ९

गुरुकुल-पत्रिका

वैशाख
२००९

इस अङ्क में

अगले अङ्कों में

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के ५२ वें वार्षिकोत्सव पर दिये गये प्राय: सब भाषण इस अङ्क में दिये जा रहे हैं।

मूल्य देश में ४) वार्षिक
विदेश में ६) वार्षिक

एक प्रति
छः आने

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की मासिक पत्रिका]

मन्त्र का बन्धन

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

वीणा का कोई तार पीतल का होता है तो कोई तार फौलाद का। कोई तार मोटा होता है तो कोई बारीक। कोई तार मध्यम स्वर में आबद्ध होता है तो कोई पञ्चम स्वर में। तार को बांधे बिना काम नहीं चल सकता। क्योंकि उस में से कोई एक विशुद्ध स्वर उपजाना होता है।

इस जगत् में ईश्वर के साथ हमें कोई विशेष सम्बन्ध स्थापित करना होता है। कोई एक विशेष स्वर जाग्रत करना होता है।

चराचर विश्व के इस विराट् विश्वसङ्गीत में सूर्य, चन्द्र, तारे, औषधि, वनस्पति आदि सब अपने विशेष स्वर बजा रहे हैं। तो क्या मानव-जीवन को भी इस चिर-उद्‌गीय संगीत में, अपना स्वर नहीं बजाना चाहिये ?

परन्तु अभी तक हमने इस जीवन को तार की तरह बांधा नहीं। अभी तक उस में से किसी गान का आविर्भाव नहीं हुआ है ! हमारे जीवन मूल स्वर से विच्छिन्न होकर अनेक प्रकार की तुच्छताएं अकृतार्थ हो रही हैं। येन केन प्रकारेण उस में से एक नित्य स्वर को ध्रुव बनाना ही पड़ेगा।

तो फिर तार को किस प्रकार बांधा जाय ? ईश्वर की वीणा में बांधने के स्थान तो अनेक हैं। उन में से किसी एक को निश्चित तो करना ही होगा।

मंत्र इस प्रकार का एक बंधन है ! मंत्र के आधार पर हम मनन के विषय को मन के साथ जोड़ कर रख सकते हैं। यही बात वीणा की खूंटी में होती है। इस प्रकार करने से आवश्यकता के प्रमाण में ही तार बांधा जाता है। वह छटक नहीं सकता।

विवाह के समय स्त्री-पुरुष के कपड़े में गांठ बांधी जाती है और उसके साथ मंत्र भी पढ़ा जाता है। वह मंत्र मन में भी गांठ बांध देता है।

ईश्वर के साथ ग्रन्थि बांधने का जो प्रयोजन है उस में मंत्र सहायक होता है। उस मंत्र के आधार पर हम उसके साथ अपना एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध निश्चित् कर सकते हैं। ऐसा ही एक मंत्र है—पिता नोऽसि, पिता नो बोधि ! नमस्ते अस्तु। मा मा हिं सी: ।

यजुर्वेद।

वैदिक (भारतीय) संस्कृति का स्वरूप

श्री बुद्धदेव विद्यालकार

सब से प्रथम विचारना है कि संस्कृति कहते किस को हैं। तीन शब्दों का इकट्ठा पास पास रखने से इस शब्द का अर्थ समझ में आ जायगा। वह तीन शब्द हैं प्रकृति, विकृति और संस्कृति। नाना प्रकार के अन्न प्रकृति हैं। उन्हें भोक्ता के लिए उपयोगी रूप दे कर हलवा बना दिया यह संस्कृति हुई। और रात भर मनुष्य के पेट मे रह कर जो हलवे की दशा हुई वह उस की विकृति हुई। यह प्रयोग मनुष्य की अपेक्षा से किया गया है। जो मनुष्य की विकृति है हो सकता है कि शूकर उसे ही संस्कृति कहता हो। सो बात स्पष्ट है। जिस के जीवन के लिए जो पदार्थ अपेक्षित हैं उस के उपादान प्रकृति हैं। उसका सहयोगी रूप संस्कृति है तथा बिगड़ा रूप विकृति है।

अब मानव समाज के कल्याण के लिए मनुष्य प्रकृति है। इसी लिए संस्कृत भाषा में प्रजा को प्रकृतयः' कहा गया है। प्रजा का मानव

जीवन को इस स्वर के साथ बांध लेने से अपने सभी विचारों में, सभी कर्मो मे, एक विशेष रागिणी बज उठती है। मैं उसका पुत्र हूं यह मन्त्र मूर्तिमान होकर हमारे समस्त अस्तित्व में यही बात प्रकट करेगा कि मैं उसका पुत्र हूं।

आजकल तो हम कुछ भी प्रकट नहीं करते, खाने-पीने में, काम में, और आराम मे समय चला जाता है। परन्तु अनत काल मे, अनंत जगत अपने पिता है ऐसा कोई लक्षण ज्ञात नहीं है। अभी तक अनंत के साथ हमारा कोई गाठ बंधी नहीं।

चलो, आज इस मंत्र से हम अपने जीवन का तार बांधे! खाते पीते, उठते बैठते, जागते सोते, बारंबार यही एक मंत्र हमारे मन में बजता रहे—'पिता नो ऽसि।' जगत् के समस्त मानव इस तथ्य को जान जाये कि हमारे पिता हैं।

ईसा मसीह इस स्वर को पृथ्वी पर झनझना चुके हैं। उनके जीवन के साथ यह तार ऐसी पक्की रीति से बंधा हुआ था कि मृत्यु पर्यन्त की समस्त यंत्रणाओं ने या दुःसह आघातों ने उसे लेशमात्र भी बेसुध नहीं बनाया। वे बोलते थे—'पिता नोऽसि।'

'हे पिता, मैं तुम्हारा पुत्र हूं'—इस स्वर को ठीक प्रकार से जगाना कोई छोटी मोटी बात नहीं। क्यों कि पुत्र मे पिता का ही प्रकाश होता है। 'आत्मा वै जायते पुत्रः।' संतान में पिता स्वय ही संतत होता है। यदि तुम्हारी अपापविद्ध, आनन्दमय, परिपूर्णता को व्यक्त नही किया जा सके तो फिर 'पिता नोऽसि' इस स्वर की झंकार कैसे होगी?

अतः मेरी प्रत्येक दिवस की यही प्रार्थना है—'पिता नो बोधि, नमस्ते अस्तु।

अनुवादक—

शंकरदेव विद्यालकार।

राष्ट्र के लिए उपयोगी बनाने वाली मर्यादाओं का समूह संस्कृति है। उन मर्यादाओं को जीवन में ओत प्रोत करने के लिए जो अनुष्ठान किये जाते हैं वे संस्कार कहलाते हैं और उन संस्कारों का परिणाम संस्कृति है।

जिस प्रकार मानव राष्ट्र एक है इसी प्रकार मानव संस्कृति भी एक है। परन्तु जिस प्रकार एक भूमि माता के अंग काट कर सैंकड़ों मातृभूमि बना दी गई हैं इसी प्रकार एक मानव संस्कृति को काट कर यारोपियन संस्कृति, भारतीय संस्कृति, इस्लामी संस्कृति, ईसाई संस्कृति आदि अनेक संस्कृति बना दी गई है।

सृष्टि के आदि में एक भूमि माता थी और उस की एक वैदिक संस्कृति थी। आज वह टुकड़े, टुकड़े हो कर बिखर गई है। भारतवासियों ने उस के बहुत से अंशों की विशेष रूप से रक्षा की है इस लिए भारतीय संस्कृति के चाहे कितने गीत गा लीजिये, परन्तु संस्कृति एक है। वैदिक संस्कृति के दो मूल तत्व है—

(१) त्याग।

(२) एकाग्रता।

त्याग का अर्थ है स्वेच्छा पूर्वक समर्पण। भक्त प्रभु की आराधना के लिए स्वेच्छा पूर्वक अपना सब कुछ समर्पण कर देता है। वह प्रभु से मांगता कुछ नहीं। उस के निष्काम सेवा आदि गुणों पर मोहित है। उन गुणों का नित्य कीर्तन करता है। उस से इन गुणों को सीखता है और सीख कर गुरु दक्षिणा रूप में अपना सर्वस्व प्राणिमात्र की सेवा में अर्पण कर देता है। वह जनता से अथवा पशु पक्षियों से बदले में कुछ नहीं मांगता। उस का प्रभु भी तो कुछ नहीं मांगता। बस उस के इसी गुण पर तो वह सब से अधिक मोहित है। इसी लिए सेवा के बदले जब उसे पीड़ा मिलती है तो वह और अधिक आनन्दित हो कर नाचता है, आज प्रभु और प्रसन्न होंगे। यह स्वेच्छा-पूर्वक त्याग ही संस्कृति की पराकाष्ठा है। पति पत्नीव्रत धर्म में कमाल दिखाए, अथवा पत्नी पतिव्रत धर्म में कमाल दिखाए, दोनों में मूलतत्व एक ही है। स्वेच्छा पूर्वक त्याग। यह त्याग एकाग्रता के बिना नहीं हो सकता। आराध्य देव प्रतिदिन बदले तो कैसे हो? पत्नी के लिए पति और पति के लिए पत्नी रोज बदलने लगें तो त्याग का अभ्यास नहीं हो सकता। इसी लिये अभ्यास के लिये इन सम्बन्धों को सङ्कुचित कर दिया गया है। माता बच्चे के लिये और बच्चा माता के लिये जब तक त्याग करता है तब तक वह संस्कृत है। जहां त्याग नहीं वहां जंगलीपन है।

फिर समय समय पर त्यागों में परस्पर संघर्ष खड़ा होता है। देश का भला करूं कि कुटुम्ब का? उस समय मनुष्य को तारतम्य निरूपण सिखाना पड़ता है। कौन सा कर्तव्य तर है कौन सा कर्तव्य तम? इस लिये मनुष्य की विचार शक्ति को भी सुसंस्कृत करना पड़ता है। इसलिये शिक्षा भी संस्कृत का एक अंग है। सुशिक्षित हुए बिना मनुष्य सुसंस्कृत नहीं हो सकता। किन्तु संस्कृति बिना अक्षर ज्ञान के सत्संग मात्र से भी प्राप्त की जा सकती है।

जब हम किसी देश की संस्कृति का वर्णन करते हैं तो हमारा अभिप्राय होता है कि मानव से संस्कृति पर पहुंचने के लिये उस देश विशेष ने कौन सी मर्यादाएं नियत की हैं।

राम ने भरत के लिये तथा भरत ने राम के लिये जो राज्य को ठोकर मारी वह सारे मानव

जगत् के लिये त्याग का सुन्दर आदर्श है। उसे हम कार्य्य सुगमता के लिए अथवा अपने देशाभिमान की भावना के सन्तोष के लिये भले ही भारतीय संस्कृति कह लें। परन्तु वस्तुतः वह मानवीय संस्कृति है। हां, भारतवासी रात दिन इस कथा को सुनते हैं और वह भारत के जीवन का अंग बन चुकी है। परन्तु हमें यहां भूलना नहीं चाहिये कि वास्तव में इस प्रकार का सुसंस्कृत आचरण किसी देश का भी हो वह मानवीय संस्कृति है। जब वेद का प्रादुर्भाव हुआ उस समय मानव देश, जाति, रंग आदि किसी भेद में बटा हुआ न था। वह मनु अर्थात् मनन शक्ति का पुत्र मानव था। इस लिये हम वैदिक संस्कृति शब्द को मानव संस्कृति के पर्यायवाची रूप में भी व्यवहार कर देते हैं।

भारत में वैदिक परम्पराओं की बहुत कुछ रक्षा की गई है। इस लिए हम कभी कभी देश भक्ति के आवेश में वैदिक संस्कृति और भारतीय संस्कृति को एक बना देते हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो वैदिक संस्कृति भारतीय नहीं किन्तु मानवीय संस्कृति है। यदि हम वैदिक संस्कृति के अत्यन्त समीप होने के कारण भारतीय संस्कृति का वैदिक संस्कृति के रूप में कभी कभी उपस्थित भी कर दें तो हमें उस समय यह नहीं भूलना चाहिये कि भारत का इतिहास सदा वैदिक संस्कृति का आदर्श प्रतिबिम्ब तो नहीं रहा।

'अक्षैर्मादीव्यः' का घोष करने वाले वेद के भक्त कहलाने वालों में वह जुआरी राजा भी तो था जिस ने भरी सभा में अपनी पत्नी जुए में हारी थी और उस को चिल्लाहट की कुछ परवाह नहीं की थी। जिस समय वह जुआरी राजा धर्मराज कहलाया उस समय के पापियों का आचार कैसा भ्रष्ट होगा यह तो कल्पना से भी परे है।

हां फिर भी यह कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति में जो कुछ सर्वोच्च चमत्कार है वह वैदिक संस्कृति की देन है। इस लिए हम यदि वैदिक संस्कृत के उदाहरण में भारतीय इतिहास की कुछ घटनाएं दे दें तो हमारा अभिप्राय ठीक समझा जा सकेगा। इसी भाव से हमें यह थोड़े शब्द वैदिक संस्कृति का सूक्ष्म मूलतत्व दिखाने के लिये लिखने पड़े—

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'

भारतीय संस्कृति अथवा वैदिक संस्कृति का मूलाधार वेद का उपरिलिखित वाक्य है। तुम वह मांगो जो उसने तुम्हारे लिये त्याग दिया है। उस ने किसने ? वह जो परमाणु परमाणु का स्वामी उस में बस रहा है। बस उस का त्याग हुआ तुम्हारा भोजन है। इसी सूत्र को जीवन के हर मार्ग में प्रयोग करने से वैदिक संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति का रूप खिल उठता है।

शिष्य गुरु की सेवा कर रहा है। लकड़ी काट कर लाता है। पानी भरता है। गौवें चराता है। गुरु ने बुला कर कहा बेटा यह काम जो हम तुम से लेते हैं तो अपने आप को आलसी बनाने के लिए नहीं किन्तु तुम्हें कर्मण्य बनाने के लिये। परन्तु यह तो तुम्हारी शिक्षा का एक अंग है। आज तुम व्याकरण के पाठ में नहीं आये। निस्सन्देह तुम उस समय गो सेवा में लगे हुये थे। परन्तु वह समय गो सेवा करने का न था। आओ बैठकर व्याकरण पढ़ो। यह बिना मांगे स्वयम् बुला कर दी हुई विद्या शिष्य का वह भोजन है जिसे—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'

अब गुरु के निषेध करने पर भी आग्रह-पूर्वक शिष्य द्वारा की गई गुरु सेवा जो गुरु को मिली है वही वह भोजन है जिसे वेद ने कहा—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' बस—

'न याचितेन भुञ्जीथा· न वञ्चितेन भुञ्जीथा न लुण्ठितेन भुञ्जीथा नास्कन्दितेन भुञ्जीथा : न क्रीतेन भुञ्जीथाः 'कन्तु त्यक्तेन भुञ्जीथा.' इस वृत्ति के अभ्यास के लिये एकाग्रता आवश्यक है। इस लिए एक समय एक शिष्य का एक गुरु होना चाहिये। यदि नित्य गुरु बदलते रहे तो इस भावना का अभ्यास नहीं होता। इसी लिये हमारी संस्कृति का दूसरा अंग एकाग्रता है। नियत परमात्मा, नियत भक्त, नियत राजा, नियत प्रजा, नियत गुरु, नियत शिष्य, नियत पति, नियत पत्नी। नियत समय, नियत रागिणी, हर पहलू में नियति है। यह ठीक है कि जो राजा प्रजा, गुरु शिष्य, पति पत्नी, नियत नियम का पालन न करे उन्हें विवश हो कर सामाजिक नियमानुसार बदलना पड़ेगा। परन्तु वह इसी लिये कि उन्होंने नियम भंग किया है। नहीं तो हमारी संस्कृति में एकाग्रता है। और इसी लिये ध्रुवता है।

आज चारों ओर चञ्चलता है।

गुरु विरजानन्द दयानन्द का छोड़ न करते थे। लोगों ने कहा दण्डी जी इस इतनी बड़ी आयु के सन्यासी को तो न मारा कीजिये। शिष्य ने कहा मेरे कल्याण के लिये ही तो मारते हैं। तुम बीच में क्यों पड़ते हो ? एक दिन शिष्य ने गुरु का हाथ पकड़ लिया। क्या सचमुच आज सूर्य पश्चिम से उदय हो गया ? क्या हिमालय गरम हो गया ? क्या आग ठण्डी हो गई ? क्या सृष्टि के नियम एक दम बदल गये ?

नहीं, कुछ नहीं।

शिष्य दयानन्द ने गुरु विरजानन्द का हाथ पकड़ लिया। घर के अन्दर से एक लाठी ले ए। गुरु के हाथ में दे कर कहा—भगवन् यह वज्र के समान कठोर देह है। आप ताड़ना तो करते हैं परन्तु ताड़ना तो आप के हाथ की होती है। अब से आप मेरी ताड़ना इस लाठी से किया कीजिये। यह है संस्कृति।

मेरे विचार आप से नहीं मिलते। मेरी समझ में आप भूल पर हैं, आप की समझ में मैं भूल पर हूं। दोनों एक दूसरे को समझाते हैं। युक्ति बल तथा प्रेम बल का प्रयोग करते हैं। आप मूर्ति पूजा करते हैं। मैंने दण्ड बल का प्रयोग कर के आप की मूर्ति तोड़ कर फेंक दी। यह है 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'।

शंकर मण्डन के घर गये। किस लिये ? मण्डन के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिये। मण्डन हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया—भगवन् कैसे पधारना हुआ ?

शङ्कर—मण्डन का घर ढूंढते हैं।

मण्डन—भगवन् यह तो मेरा ही नाम है।

शङ्कर—आहा आनन्द हुआ। आप के सिद्धांतों का खण्डन करने आया हूँ।

मण्डन—भगवन् अहो भाग्य। आज कोई मण्डन से लोहा लेने वाला पैदा तो हुआ। परन्तु भगवन्! पहिले मेरी एक शर्त स्वीकार करनी होगी।

शङ्कर—वह भी कह दीजिये।

मण्डन—भोजन इस सेवक का स्वीकार करना होगा।

शङ्कर—ठीक। परन्तु हमारे बीच में मध्यस्थ कौन होगा।

मण्डन—जिसे आप कहें।

शङ्कर—जिसे मैं कहूँ ?

मण्डन—भगवन्, जिसे आप कहें।

शङ्कर—अच्छा तो हमारे इस शास्त्रार्थ में मध्यस्थ होगी आपकी विदुषी धर्मपत्नी। इसका नाम है संस्कृति।

मूलतत्व एक है-'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।'

अतिथि गृहपति के घर आए। गृहपति ने भोजन कराया। परन्तु आश्चर्य कि धन्यवाद देने खड़ा हुआ गृहपति, भगवन्! मैं धन्य हूं। आपने मेरा भोजन पवित्र किया। यह है संस्कृति।

अर्जुन ने गन्धर्व को युद्ध में जीता। राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से शरणागत होने पर उसे अभय दान दिया। कृतज्ञ हो कर चित्र रथ नामक वह गन्धर्व अर्जुन को गम तथा दूरस्थ दृश्यों को देखने की विद्या प्रदान करने लगा। अर्जुन ने कहा शरणागत को अभयदान क्षात्र धर्म की मर्यादा पालन करने के लिये दिया है। बदले में विद्या खरीदने के लिये नहीं। यह है—'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'

अर्जुन कहता है—

यदि प्रीतेन मे दत्तं संशये जीवाश्रया विद्या

धन मुक्तवाऽपि न तम् गन्धर्व रोचये।

महाभारत आदि० अ० १७०, श्लोक ४५

अन्त को अर्जुन ने अपनी विद्या गन्धर्व को दी। गन्धर्व ने अपनी अर्जुन को। इस प्रकार विनिमय द्वारा कार्य सम्पन्न हुआ। शरणागत को अभय दान देने में कहीं विद्या लोभ का दाग न लग जाय। इसका नाम है संस्कृति।

सीता-स्वयम्वर में लक्ष्मण राम से कहते हैं-

लक्ष्मण—आर्य निशाचर-पति रावण भी देवी सीता की कामना करता है।

राम—वत्स! साधारण राजा भी सीता की कामना कर रहे हैं, फिर भला जगज्जयी, परमेष्ठी प्रपौत्र रावण उस की कामना क्यों न करे?

लक्ष्मण-आर्य में बहुत ही सौजन्य है। उस सहज वैरी रावण का भी इतना मान आप कर रहे हैं।

राम—रावण शत्रु है इस लिये उसका वध किया जा सकता है। परन्तु पराक्रमी अप्रमेय तपस्वी असाधारण शक्तिशाली रावण का साधारण व्यक्ति की भांति नाम नहीं लिया जा सकता। उस का आदर से नाम लेना चाहिये।

इस का नाम है संस्कृति।

लक्ष्मणः—आर्य! निशाचरपतिर्देवीमिमा प्रार्थयते।

रामः—वत्स!

साधारण्यान्निरातङ्कः कन्यामन्योऽपि याचते।

किम्पुनर्जगतां जेता प्रपौत्रः परमेष्ठिनः॥

लक्ष्मणः—अति हि सौजन्यमार्यस्य, नस्मिन्नपि निसर्ग वैरिणि निशाचरे बहुमानः।

यो नक्षयीपरिभ्वसात् क्षात्र तेजोऽपकर्षति।

अस्माकं यश्च राजानमनरण्यञ्जिलावधीत् ॥

रामः—कामं शत्रुरिति वध्यः स्यात्। न पुनरतिवीर्य्यमप्रमेयतपसमप्राकृतं प्राकृतवदर्हसि व्यपदेष्टुम्।

(महावीर-चरित, प्रथम अंक)

सत्य

जो कुछ हमने ऊपर लिखा है उस से स्पष्ट है कि एकामता के लिये जिस गुण की सब से अधिक आवश्यकता है वह है सत्य परायणता। यद्यपि यह संस्कृति का साधन है। तथापि कोई कोई साधन साध्य के इतना निकट होता है कि

उसे साध्य ही मानना पड़ता है। इसी लिए वेद में लिखा है—'सत्येनोत्तभिता भूमिः' यह भूमि सत्य के सहारे खड़ी है।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—'सत्यं वै देवा अनृतम् मनुष्याः' असत्य देव को मनुष्य और सत्य मनुष्य को देव बना देता है।

मनु ने भी लिखा है—'नास्ति सत्यात् परो-धर्मो नानृतात् पातकम् परम।'

कहां तक कहें। भारत का सारा साहित्य सत्य की महिमा से भरा पड़ा है। दूर क्या जाना है भारत के निकृष्टतम युग में धर्मराज युधिष्ठिर ने जो आदर्श दिखाया वह इस का प्रमाण है। जूए का खेलना तथा जूए में पत्नी को हारना जहां मूर्खता की पराकाष्ठा है, वहां वचन पालन के लिए शक्ति रखते हुए भी द्रोपदी का अपमान सहन करना सत्य परायणता की पराकाष्ठा है।

भारतीय संस्कृति के मूलतत्वों में से एकाग्रता नामक जिस तत्व का हम ऊपर वर्णन कर आए हैं वह सत्य परायणता के बिना कुछ नहीं। शिष्य ने गुरु सेवा का व्रत लिया, पति ने पत्नी परायणता का तथा पत्नी ने पति परायणता का, राजा ने प्रजा पालन का, प्रजा ने राजभक्ति का व्रत धारण किया। यह सब कुछ भी अर्थ नहीं रखते यदि उन में सत्य परायणता नहीं। हर्ष का विषय है कि भारत सरकार ने 'सत्यमेव जयते' को अपना महामन्त्र स्वीकार किया है। इससे भी स्पष्ट है कि जिन लोगों पर भारतीय संस्कृति का अनुचित रूप से पक्षपात करने का लाछन कोई नहीं लगा सकता उन को भी यह मन्त्र सूझा तो कहना चाहिये कि यह भारतीय संस्कृति का प्राण है।

एक और तथ्य है जिस के जाने बिना भारतीय संस्कृति की रूप रेखा भी सामने नहीं आ सकती। वह है भारतीय संस्कृति में अन्तः स्थिति का स्थान। वर्तमान युग परिस्थिति-वाद का युग है। हर बुराई का कारण परिस्थितियों का बिगड़ना तथा हर सुधार का साधन परिस्थिति का सुधार है। यदि मनुष्यों में बेईमानी है तो उस का कारण बताया जाता है पेट खाली होना। पेट भर दो ईमान स्वयम् फूट पड़ेगा। किन्तु देखने में जो यह आता है कि प्रायः खाली पेट वाले ईमानदार तथा भरे पेट वाले बेईमान होते हैं। और जिस का पेट जितना अधिक भरा है वह उतना ही बड़ा बेईमान है। यह इस परिस्थितिवाद के प्रचार का परिणाम है। जो काम किसी समय लोग कलियुग से लेते थे वह वर्तमान युग के लोग परिस्थिति से लेते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जिस की अन्तः स्थिति विकृत होगी वह निर्धनता में चोरी करेगा, धन प्राप्ति में डाका डालेगा। इस के विपरीत जिसकी अन्तः स्थिति ठीक होगी वह निधनता में मेहनत से कमाएगा, धनी होकर दान करेगा।

मनुष्य की परिस्थिति के सुधार की अपेक्षा उस की अन्त स्थिति के संस्कार की सहस्रगुण अधिक आवश्यकता है। इसी लिए भारतीय संस्कृति अन्दर की ओर से बाहिर की ओर प्रवाहित होती है। संसार की अल्प संस्कृतियां बाहिर से अन्दर की ओर। इसी लिए भारतीय संस्कृति में शिक्षक को आचार्य कहते हैं जो बालक के आचार ठीक रखता है।

ब्रह्मचर्य

पति की सेवा पत्नी की ओर तथा पत्नी की पति की ओर एकाग्र है। ब्राह्मण सत्य में एकाग्र है। क्षत्रिय न्याय रक्षा में। वैश्य उत्पादन में।

शूद्र सेवा मे। प्रजा राजा की भक्ति मे, राजा प्रजा पालन मे। पर यह सब मिल कर किस एक ध्येय की आराधना कर रहे हैं वह ध्येय है परब्रह्म परमात्मा घट घट का व्यापक। जिस के लिये कहा—'ईशा वास्यमिद सर्वम्।'

बस उस ब्रह्म का ही दिया तो सब को खाना है। इसी लिये कहा—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा।' जो वह तेरे लिये छोड़ दे उस के त्यागे हुए से तू गुजारा कर। बस उस ब्रह्म की दी हुई हर वस्तु को उस की सेवा मे लगाना ब्रह्मचर्य है। वीर्य्य उस की दी हुई भौतिक सम्पत्तियो मे से सब श्रेष्ठ है। इस लिए उस की रक्षा का विशेष रूप से ब्रह्मचर्य नाम हो गया। परन्तु वस्तुतः ब्रह्मचर्य का अर्थ तो यही है कि हर वस्तु को ब्रह्म की सेवा मे लगाना। यदि मैं उचित से अधिक खाता हूँ और शरीर को प्रभु अपण न करके रोगार्पण करता हूँ तो मेरा जरूर ब्रह्मचर्य भ ग हुआ स्वामी का माल मैंने उदर शूल नामक चार को दे दिया। मैं ब्रह्मचारो न हो कर शूलचारी होगया। यही ब्रह्मचर्य शब्द का अथ ह। इस प्रकार का आचरण सिखा कर आचार्य हमे ब्रह्मचारा बनाता है। इस लिए व्यभिचार को दूर करने के लिये परिस्थिति की अपेक्षा अन्तःस्थिति के सुधार की अधिक आवश्यकता है। इस का परिणाम यह होना है कि विपरीत से विपरीत परिस्थिति में भी अर्जुन उर्वशी के और दयानन्द कूर्मो द्वारा सिखा कर भेजी हुई वेश्या के पाश मे न फसता। फसे कैसे ? राम राम तो ब्रह्मचर्य हो चुका। वही विचर रहा है। कुछ बचा हो तो वेश्या को मिले। यह अन्तःस्थिति का सुधार ही हमारा ध्येय है। आखिर परिस्थिति किस का नाम है। यदि हम सब अपनी अपनी अन्तःस्थिति सुधार लें तो सब की परिस्थिति आप सुधर गई। अन्तःस्थिति के सुधार में मुझे केवल एक व्यक्ति पर श्रम करना है। परिस्थिति मे अरबों मनुष्यो का सुधार करना है। कहिये कौन सा सुगम है ?

हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि परिस्थितियों का सुधार हेय, अनादरणीय अथवा उपेक्षणीय है। हम तो केवल यह कह रहे है कि इन में से प्रधानता किस की है। मुर्दा कफन मे लिपटा पड़ा है। आपने उस का कपड़ा उतार दिया, रस्सियें काट दीं। अब उस से कहिये कि परिस्थिति सुधर गई, अब उठ खड़ा हो। भला क्या वह उठ सकता है ? हां कोई जीवित मनुष्य जो रस्सियों से बधा हो, छूटने के लिए छटपटा रहा हो छूट कर रहेगा। परन्तु रस्सियां काट देने से जल्दी छूट जायगा। परिस्थितियो का सुधार सहायक है। मूल प्रेरक नहीं। यही तथ्य है जिसे भारत को संसार के सामने उपस्थित करना है।

आर्य्य पुरुषो यह संसार अविद्या, अन्याय, अप्रभाव मे पीड़ित है। आओ सच्चे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बन कर एकाग्र चित्त से सब शक्तियों को एकाग्र कर के इन से लड़ने निकल पड़ो।

परिस्थितियों की परवाह मत करो। जमाने की दुहाई मत दो। इस युग का राजा दयानन्द है।

दयानन्द जमाने के पीछे चलने नहीं आया था। वह जमाने को अपने पीछे चलने आया था।

देखो वह शरशय्या पर पड़ा हुआ एक ब्रह्मचारी चिल्ला कर कह रहा है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूद्राजा कालस्य कारणम्॥

गुरुकुल-शिक्षण-प्रणाली की स्थिरता कैसे हो ?

श्री देवराज विद्यावाचस्पति

संसार में अनेक संस्कृतियाँ हैं। कई संस्कृतियाँ मौलिक हैं और कई दूसरी किसी संस्कृति का रूपान्तर हैं। वर्तमान भारतीय संस्कृति का मूल प्राचीन काल की वैदिक संस्कृति है। यह हो सकता है कि इस में बाहर से आई हुई अनेक जातियों की संस्कृतियों का किसी अंश में मिश्रण हो चुका हो। परन्तु इतना होते हुए भी अभी तक यहां की भारतीय प्रजा ने अपनी वैदिक संस्कृति की मौलिकता को छोड़ा नहीं है। भारत की अधिकांश जनता ने अपने धर्म, आचार-व्यवहार, समाज निर्माण, राजनैतिक प्रबन्ध और विज्ञान जैसा कि आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थ वेद, शिल्प, कृषि, गोपालन, खगोल विद्या, पशु-पक्षियों की विद्या, वनस्पतियों की विद्या, अश्व विद्या इत्यादि सब विद्याओं का आधार वेदों से माना है। उन्हीं वेदों का पठन-पाठन और अनुशीलन सुदीर्घ काल से बन्द हो चुका था। बाहर के देशों के प्रबन्धकों की दृष्टि इस भारत वर्ष के ऊपर ऐसी पड़ी जैसी गृध्र दृष्टि मुर्दों पर पड़ती है। बाहर के लोग भारतीयों से अपना मतलब सिद्ध करके यहां की संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहते थे। ईसाई और मुसलमान इस बात पर तुले हुए थे कि भारत के अन्दर कोई हिन्दु हिन्दु रूप में न रहे। उनके प्रयत्न इस प्रकार के जारी थे कि कुछ ही वर्षों के अन्दर यहां के हिन्दुओं को समाप्त कर दिया जाय अर्थात् या तो वे ईसाई हो जाय या मुसलमान। हिंदु अपनी संस्कृति का गौरव भूल जाय। यहां की कृषि, और गाय आदि पशुओं के उद्योगों के द्वारा बाह्य देशों का पोषण हो और यहां के लोग बाहर से आई हुई बनी बनाई चीजों पर अपनी जीविका चलायें।

ऋषि दयानन्द ने ने अपनी आर्ष दृष्टि के कारण भारत के भविष्य को बहुत दूर तक देख लिया था। इस लिए भारतीयों को चेतावनी दी और पाश्चात्यों की तरफ से इनको अपना मुख मोड़ने के लिये प्रबल आदेश दिया। स्वामी दयानन्द की लिखी हुई 'गो करुणानिधि' से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति का आधार गाय है। वेद के 'मातृभूमि' सूक्त को पढ़ने से प्रारम्भ में ही यह पता लग जाता है कि गौ और अश्व के अन्दर हम रहें न कि गौ और अश्वों को अपने अन्दर रखें।

आजकल स्वार्थी लोग गाय, घोड़े आदि पशुओं को अपने स्वार्थ के लिये उन पर थोड़ा सा ध्यान करते हैं। परन्तु इन पशुओं के लिए अपने आप को अपण नहीं कर देते।

उसी वैदिक संस्कृति के पुनः प्रचार करने के लिये स्वामी दयानन्द के शिष्य महात्मा मुन्शीराम जी जिज्ञासु (श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल की स्थापना की) गुरुकुल में संस्कृत, आर्य भाषा, विज्ञान तत्वज्ञान और वेद, वेदाङ्ग, उमाङ्ग आदि सत्य शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ।

गुरुकुल शिक्षण प्रणाली को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सांस्कृतिक क्रान्ति के लिये जो प्रयत्न स्वामी श्रद्धानन्द ने प्रारम्भ किया उसका आधार भिक्षा वृत्ति पर रखा। उसी प्रणाली पर चलते हुए गुरुकुल आज तक अपने कदम बढ़ा रहे हैं। इस पद्धति में स्वामी श्रद्धानन्द जी को निःसन्देह गौरव प्राप्त हुआ परन्तु यह शिक्षा प्रणाली गुरुकुलों के अन्य सचालकों के लिये बहुत भारी हो गई।

आज गुरुकुलों के सचालक स्वामी श्रद्धानन्द जी का गौरव दिखलाने वाले गुणों का गान करते हैं। परन्तु साथ ही साथ इस शिक्षण प्रणाली में यह दोष भी बतलाते हैं कि यह शिक्षण प्रणाली केवल भिक्षा वृति के ऊपर चलने से वैसी उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती जैसा उत्कर्ष इस में होना चाहिए।

प्राचीन काल के बड़े बड़े विद्यालय और विश्व विद्यालय थे, साथ सैकड़ों ग्रामों का सम्बन्ध रहता था और उनकी स्थिर आमदनी विद्यालयों को प्राप्त होती थी जिसके द्वारा सहस्रों विद्यार्थी उच्च शिक्षा विद्यालयों में प्राप्त करते थे। वसिष्ठ ऋषि के आश्रम का वर्णन जब हम पढ़ते हैं तो पता लगता है कि सम्पूर्ण सेना सहित राजर्षि विश्वामित्र का स्वागत वसिष्ठ के आश्रम में हुआ। इस से अनुमान कर लेना चाहिए कि वसिष्ठ ऋषि का आश्रम कितना विशाल होगा। इस आश्रम के साथ कितनी विस्तृत भूमि कृषि के लिये होगी और कितनी विशाल गौशाला वहा पर होगी। उसके आश्रम के वर्णन से पता लगता है कि इस प्रकार के बड़े २ आश्रम गायों की सस्कृति पर चलते थे। वह वस्तुत भारतीय वैदिक सस्कृति का क्रियात्मक रूप था।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल की आर्थिक स्थिरता के लिए पञ्जाब की आर्य समाजों का सम्बन्ध गुरुकुल के साथ इस प्रकार जोड़ा था कि आर्य-समाजों के द्वारा गुरुकुल का स्थिर आमदनी होती जाय। परन्तु कालचक्र के अनुसार यह सब योजना अस्थिर था। वसिष्ठ ऋषि के आश्रम की योजना कृषि और ग्राम थे। इस लिये गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की उत्तमता को ध्यान म रख कर यदि हम उसे स्थिर करना चाहते हैं तो उसका आधार वही भारतीय वैदिक सस्कृति बनाना होगा जिसका कुछ आभास हमें प्राचीन काल में वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में मिलता है।

यदि हम कृषि, गोपालन, गोसवर्धन आदि विषयों को शिक्षा का आधार बनाने के लिये पूर्ण प्रयत्न करें और उनमें वेद, वेदाग, उपाग, उपवेद आदि की पूर्ण शिक्षा स्वामी दयानन्द की प्रदर्शित प्रणाली के द्वारा दें तो नि सन्देह स्वामी श्रद्धानन्द जी का गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का आदर्श पूर्ण हो और जो निराशा गुरुकुलों के सचालकों को आर्थिक कठिनाई के कारण हो रही है वह दूर हो। इस समय योग्य शिक्षकों का अत्यधिक समय धन सग्रह मे व्यतीत हो जाता है और मदोन्मत्त धनिकों के सामने विद्वानों का हाथ फैलाना पड़ता है जिस से उनकी आत्मा का भारी धक्का पहुँचता है और उनका गौरव कम हो जाता है। आजकल के जमाने में जिसके पास धन है उसी की सर्वत्र पूजा होती है और विद्वान् पुरुष उन से नीचे समझे जाते हैं। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्तमान-शिक्षा प्रणाली जो ससार को वैदिक सस्कृति का आदेश देने के लिये उपस्थित हुई थी वह स्वय परमुखापेक्षी हुई है और उसका गौरव जो होना चाहिए था वह अनुभव करते हुये भी किसी अश म दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

इस लिये स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रदर्शित गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली को ठीक करने के लिए हमें उसी भारतीय वैदिक सस्कृति का आश्रय लेना होगा जिसमें 'गो सेवा' का प्रधानता है। इस के लिये आवश्यक होगा कि गुरुकुल में प्रविष्ट प्रत्येक शिक्षार्थी अपने श्रम से अपना अन्न और वस्त्र उत्पन्न करे। अन्न और वस्त्र की उत्पत्ति का शिक्षार्थी के शिक्षण का अङ्ग बनाना होगा। सुदीर्घ काल में भारतीय जनता का निवास स्थान आश्रमों में बदल जावेगा। तब वैदिक सस्कृति का असली रूप प्रकट होगा।

★

अहिच्छत्रा से प्राप्त महत्वपूर्ण यक्ष-प्रतिमा

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी एम० ए०

बरेली जिले का रामनगर गाँव तथा उसके आस-पास की भूमि एक प्राचीन नगरी की स्मृति सजोए हुए है। इस नगरी का नाम 'अहिच्छत्रा' था और यह पञ्चाल देश की राजधानी थी। प्रसिद्ध है कि द्रोणाचार्य ने राजा द्रुपद को महाभारत की लड़ाई के कुछ पहले परास्त कर 'उत्तर पञ्चाल' को अपने अधीन कर लिया और द्रुपद का स्वामित्व केवल राज्य के दक्षिणी भाग पर रहने दिया, जो 'दक्षिण पञ्चाल' कहलाया। उत्तर पञ्चाल की राजधानी अहिच्छत्रा हुई तथा दक्षिण पञ्चाल की काम्पिल्य (वर्तमान कम्पिल, जिला फर्रुखाबाद)।

महाभारत में अहिच्छत्रा नगरी के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इस के अन्य नाम छत्रवती, अहिछत्र अधिच्छत्र, अहिक्षेत्र और अहिक्षत्र भी मिलते हैं। इलाहाबाद जिले के पभोसा (प्राचीन प्रभास) के एक अभिलेख मे इस नगरी का नाम 'अधिछत्रा' दिया है। हरिवंश, पाणिनि का अष्टाध्यायी आदि ग्रन्थों में भी इस प्रसिद्ध नगरी का वर्णन मिलता है।

लगभग ई० पू० १५० से अहिच्छत्रा की बड़ी उन्नति हुई। यह स्थान कुषाण गुप्त काल में बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्म का एक बड़ा केन्द्र बन गया। कालांतर मे जैनियों ने भी इसे महत्व प्रदान किया। रामनगर से कुछ दूर एक बड़ा गढ़ है, जिसे 'आदि-कोट' कहते हैं। यहां कई स्थानों पर १६४० से ले कर १९४४ ई० तक भारतीय पुरातत्त्व विभाग के द्वारा खुदाई की गई, जिस मे पाषाण एव मिट्टी की मूर्तियां तथा सिक्कों के रूप में मूल्यवान ऐतिहासिक एव कलात्मक सामग्री प्राप्त हुई। गुप्तकालीन कुछ मूर्तियां तो अत्यन्त सुन्दर हैं। इन में पार्वती का आकर्षक केशविन्यास युक्त मस्तक, शिव का सिर, किन्नर मिथुन तथा किरातार्जुनीय मूर्तियां उल्लेखनीय हैं।

शुंग एव कुषाण काल की कुछ स्त्री-पुरुषों तथा देवताओं की मूर्तियां भी कला की मूल्यवान् कृतियां हैं। इस खुदाई के द्वारा ई० पू० ३०० से भी पहले से ले कर ई० ११०० तक का इतिहास बहुत कुछ प्रकाश में आ गया है। 'आदिकोट' तथा अन्य टीलों की खुदाई से अभी बहुत महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

प्राचीन अहिच्छत्रा नगरी के भग्नावशेष कई मीलों के विस्तार में दबे पड़े हैं। उन का जीर्णोद्धार इस विस्मृत नगरी तथा पञ्चाल देश की इतिहास शृंखला को जोड़ने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

हाल में ही मुझे रामनगर में एक अभिलिखित यक्ष-प्रतिमा प्राप्त हुई, जो पास के एक खेत से मिली बताई गई। मूर्ति को देखने पर पता चलता है कि बहुत समय तक इस से मसाला बाटने का सिलबट्ट का काम लिया जाता रहा। मूर्ति चित्तीदार लाल पत्थर की है। इस पर एक बड़े तोंद वाला बौना यक्ष बना है। वह अपने दोनों हाथों से अपना मुंह खोल कर दांत दिखा रहा है। उस के गले पर भारी भरकम माला दर्शनीय है। मूर्ति के अगल-बगल मकर-मुख तथा बेलें सुन्दरता से उत्कीर्ण हैं। मूर्ति की ऊंचाई डेढ़ फीट तथा चौड़ाई नौ इञ्च है।

यक्ष के सिर के ऊपर ई० दूसरी शती के प्रारम्भ का एक लेख खुदा है। यह लेख ब्राह्मी लिपि तथा मिश्रित संस्कृत भाषा में है और इस प्रकार है—

'भिक्षुकस्य धमघोषय दानं
फरगुलविहारा अहिछत्राया।'

ठहरो और प्रतीक्षा करो

प्रो० रामचरण महेन्द्र, एम० ए०

अधीरता बचपन की निशानी है। छोटा बालक क्षुद्र सी वस्तु के लिए रोता पीटता है। जिद कर माता पिता के नाक में दम कर देता है जो कुछ कार्य करता है, उस का फल तुरन्त चाहता है। उस में परिपक्वता नहीं होती। उस का मन ललचाता रहता है। हर वस्तु के प्रति उस के मन में एक सहज आकर्षण होता है।

इस अधीरता का बड़े व्यक्ति में होना एक कमजोरी है। जो व्यक्ति आज पेड़ लगा कर आज ही उस का फल चखना चाहता है, उसे मूर्ख कहा जायगा। संसार में सभी वस्तुओं के विकास तथा परिपक्वता के लिए एक निश्चित समय का क्रम है। उस समय का पालन प्रत्येक वस्तु तथा जीवन में होना अवश्यम्भावी है। समय से पूर्व कुछ नहीं हो सकता।

'ठहरो, और प्रतीक्षा करो'—इस में गहरा तथ्य छिपा हुआ है। ठहरने का यह अभिप्राय नहीं कि आप का जीवन आलस्य या शून्यता में व्यतीत हो। ठहरने से हमारा अभिप्राय है कि उस काल में सतत परिश्रम कर आप उत्तरोत्तर अपनी शक्तियां, योग्यताएँ, अच्छाईयां बढ़ाते रहें। कमजोरियों को छोड़ते रहें। एक एक सद्गुण चुन कर चरित्ररूपी उद्यान में लगावें। यह उन्नति का कार्य जितनी तीव्रता से चलेगा उतनी ही संसार में बढ़ने के लिए कम प्रतीक्षा करनी होगी।

जीवन के प्रारम्भ में हो सकता है आप को दूसरों से जली कटी बातें सुननी सहनी पड़े। मन के घाव, दूसरों द्वारा कही हुई कटी जली बातों के घाव समय के बहाव के अनुसार स्वयं विनष्ट हो जाते हैं। प्रतीक्षा करने से एक समय ऐसा अवश्य आता है, जब पुराना जमा हुआ मैल धुल कर साफ हो जाता है। प्रतीक्षा करने का अभिप्राय है अपने आप को बढ़ते हुए समय, परिस्थिति, तथा नई आवश्यकताओं के अनुसार ढालते चलना। प्रत्येक दिन संसार की प्रगति तेजी से होती जा रही है। जीवन मे संघर्ष भी तीव्रतर होता जा रहा है। प्रतीक्षा काल आप के लिए अपनी योग्यताएँ बढ़ाने का समय है। संसार के अन्य देशों के उन्नतिशील व्यक्तियों संस्थाओं, पुस्तकों से ज्ञान संग्रह कर बड़े से संघर्ष के लिए तैयारी का समय है।

प्रतीक्षा-काल कठिन परिश्रम का समय तो है ही, सतर्कता, ध्यान और देखभाल का समय भी है। इस

अर्थात् अहिच्छत्रा के फरगुल विहार में वर्मघोष नामक बौद्ध-भिक्षु का दान।

यह लेख कई दृष्टि से महत्व का है। उपलब्ध शिलालेखों में यह सब से प्राचीन है जिस पर 'अहिछत्रा' रूप मिलता है। 'फारगुल विहार' नाम भी उल्लेखनीय है। यह उस मुख्य बौद्ध विहार का नाम रहा होगा जो प्रारम्भिक कुषाण काल में अहिच्छत्रा में विद्यमान था। 'फरगुल' नाम विदेशी-सा लगता है—जैसे मणिगुल, हिरगुल आदि नाम।

इस मूर्ति को पूजा में रख लिया गया था और इस का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन था, यदि बरेली जिले के सब-डिवीजनल मैजिस्ट्रेट श्री श्रीधरप्रसाद निगम तथा आँवला के पुलिस सब इन्स्पेक्टर श्री हरप्रकाश मेरी मदद न करते। मैं इन दोनों सज्जनों का एतदर्थ आभारी हूं। यह मूर्ति इस समय राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में प्रदर्शित है।

★

पौधों में आत्मरक्षा के साधन

श्री ओमप्रकाश

समस्त जन्तु जगत् किसी न किसी प्रकार से वनस्पति जगत पर आश्रित है। हम देखते है कि हमें भोजन, वस्त्र आदि प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी पूर्णतः वनस्पति जगत् पर ही आश्रित रहना पड़ता है। इस प्रकार पौधों को या तो भिन्न २ जाति के जन्तुओं के लिए बलिदान हो जाना चाहिए। विशेष तौर से उनके लिए जो शाकाहारी हैं और पूर्णतः शाकाहार पर ही अवलम्बित हैं या फिर उनके लिए ऐसे विशेष आत्मरक्षा के साधन होने चाहिएं जिस से वे अपने शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सकें और उनके आघात से बच सकें। क्यों कि जमीन में सदैव एक स्थान पर स्थित रहने के कारण वे आत्म-रक्षा के लिए किसी अन्य प्रकार का छल प्रयोग करने में पूर्णतः असमर्थ होते हैं। यदि हम वनस्पति जगत् पर एक साधारण दृष्टिपात करें तो हम उनके आत्म-सुरक्षा के साधनों से भली भांति अवगत हो सकते हैं। उन

काल मे आप को संसार की गति देखनी है। जन-रुचि का समुचित अध्ययन करना है। आप जिस दिशा में उन्नति कर रहे हैं, उस का महत्व तथा मूल्य कितना घट या बढ़ रहा है, यह भी ध्यान रखना है। जो व्यक्ति समय और परिस्थितियों के प्रति सतर्क है, वह विकास-पथ का पथिक है। कूप मण्डूक की भांति पड़े रहने वाले आदमी संसार में पिछड़ जाते हैं, जब कि सतर्क रहने वाले व्यक्ति चरम शिखर पर आरूढ़ होते हैं। सतर्क व्यक्ति समय को मार के ऊपर है। है। वह समय की आवश्यकताओं से सदा सर्वदा अपने को ऊँचा उठाये रहता है। जो समय चाहता है, उस से कहीं अधिक उसे देने के लिए प्रस्तुत रहता है। संसार में जितने महान् व्यक्ति हुए हैं, वे अपने ज्ञान, अनुभव तथा विद्या बुद्धि से इतने परिपूर्ण रहे कि उन की योग्यता का स्तर कभी नीचा न हुआ। उन्होंने अपने ठहरने और प्रतीक्षा के समय इतनी योग्यताएँ इकट्ठी कर लीं कि वे उच्च से उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो सके।

अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि कुत्ते के भी दिन फिरते हैं। अभिप्राय यह है कि हम में से प्रत्येक के जीवन में एक ऐसा महत्वपूर्ण क्षण आता है, जब हमारी योग्यताएँ इतनी विकसित हो जाती हैं कि हम संसार की प्रतियोगिताओं में हिम्मत से खड़े हो कर सफलता प्राप्त कर सकते हैं। यदि मनुष्य धीरे-धीरे आत्म-विकास करता रहे, तो वास्तव में एक दिन वह उच्चतम पद के योग्य हो सकता है। हमारा अनुभव हमें आगे बढ़ाता है।

अनुभव का बड़ा मूल्य है। पुस्तकीय ज्ञान अपूर्ण और अधूरा-सा रहता है। संसार के विषय में जो मान्यताएं हम स्वयं अपनी इन्द्रियों के ज्ञान से एकत्रित करते हैं, वह ठोस और पूर्ण होता है। 'ठहरो और प्रतिक्षा करो' का अभिप्राय यही है कि अपना अनुभव बढ़ाइये। संसार की गति, मनुष्यों की आदतों, कूटनीतियों तथा गुप्त रहस्यों को देखिये आप को अनेक प्रकार की नई नई बातों का ज्ञान होगा। यही गुप्त रहस्य मिल कर आपका अनुभव बन जायगे। आपके अनुभव में अनेक ऐसी कटु अनुभूतियां भी सम्मिलित होंगी। आपको जहां ठोकर लगती है, आपको जो नुकसान होता है, वह दूसरे अर्थों में आपका अनुभव बढ़ाता है। आगे के जीवन में सतर्क रहने का आदेश देता है।

★

साधनों में से निम्न उल्लेखनीय हैं।

रक्षात्मक साधन

कांटों की उपस्थिति—ये काफी कड़े, नोकीले और तेज होते हैं और बहुत से वृक्षों में उनके शरीर पर बाहर की ओर निकले होते हैं। इनके कारण कोई भी जन्तु इनके पास आने का साहस नहीं करता। इसका सब से अच्छा उदाहरण गोखरू है, जिसके सारे शरीर पर कांटे ही कांटे होते हैं ये कांटे छोटे बड़े, नोकीले और सुई जैसी आकृति के हर प्रकार के हो सकते हैं स्थिति और बनावट के अनुसार इनको हम निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. कान्छज शूल—ये कड़े सीधे और नोकीले होते हैं। ये वास्तव में कान्छज कलिका के ही रूपांतर हैं क्योंकि ये भी पत्ती के कक्ष से ही निकलते हैं। ये जन्तु की त्वचा को बड़ी आसानी से छिद्रित कर सकते हैं, इनका उदाहरण हम नीबू, दुरंटा, करन्ज आदि में भली भांति देख सकते हैं।

२. पत्रज शूल—किन्हीं पौधों में पत्तियां ही नोकीली होकर कटार जैसी शक्ल में परिवर्तित हो जाती हैं और इस प्रकार पौधों की रक्षा करती हैं। पत्तियों का कांटों में परिवर्तन विभिन्न पौधों में विभिन्न प्रकार से होता है। किन्हीं पौधों में ये परिवर्तित कांटे ठीक पत्तियों के स्थान पर ही होते हैं जैसे बरबेरा (Barberry) लेकिन नागफनी में हम देखते हैं कि साधारण पत्तियां तो थोड़ी वृद्धि को प्राप्त होकर गिर जाती हैं परन्तु पत्ती के कक्ष में उत्पन्न छोटी २ पत्तियां ही बढ़ कर कांटों का रूप धारण कर लेती हैं। ये कांटे पौधे की ऊपर की चोटी पर भी हो सकते हैं जैसा कि हम खजूर में देखते हैं और किनारे पर भी जैसे पीले धतूरे में।

३. वक्र शूल—ये पौधे में अति वृद्धि के रूप में होते हैं और पौधों पर अनियमित ढंग से फैले होते हैं ये कड़े और कान्छज शूल की भांति नोकीले होते हैं और अक्सर मुड़े हुए होते हैं, ये गुलाब में बड़ी अच्छी प्रकार देखे जा सकते हैं जन्तु को इन मुड़े कांटों से छुटकारा पाने के लिए बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

बालों की उपस्थिति

१. डसने वाले बाल (बिच्छू पेड़)—किन्हीं पौधों में उनकी पत्तियों पर, फलों पर या उनके समस्त शरीर पर एक प्रकार के डँसने वाले बाल उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक बाल में एक नोकीला सिरा होता है जोकि जरा सा छू देने पर टूट जाता है। जब कोई जन्तु उसके पास से गुजरता है तो इस बाल का किनारा टूट कर प्राणी के शरीर में घुस जाता है और घाव कर देता है और बाल में स्थित एक अम्लीय रस घाव के द्वारा शरीर में पहुंच कर सूजन और दाह पैदा कर देता है। इन पौधों में सब से ज्यादा विषैला पौधा ज्वर बिच्छू पेड़ (Feverer Devil Nettle) है जो कि आसाम में बहुत पाया जाता है।

२. ग्रन्थिल बालों की उपस्थिति—बहुत से पौधों के पत्तों, शाखाओं या फलों के ऊपर ऐसे बाल व्यवस्थित होते हैं कि जिनके चारों ओर छोटी २ ग्रन्थियां होती हैं। इन ग्रन्थि वाले बालों से एक प्रकार लेसदार पदार्थ निकलता है। अगर कोई जानवर इनको खाता है तो यह लेसदार पदार्थ उनके मुख में चिपट जाता है और इस से जानवर को बड़ी कठिनाई अनुभव होती है और इस प्रकार ऐसे पौधे चरने वाले जानवरों से अपनी रक्षा करने में समर्थ होते हैं। तम्बाकू, पुनर्नवा और चित्रक आदि इस प्रकार के पौधों के अच्छे उदाहरण हैं।

३. घने बालों की उपस्थिति—किसी पौधे पर घने बालों की उपस्थिति भी पौधों को जन्तुओं से बचाने में समर्थ होती है क्योंकि ये बाल उनके गले में चिपक जाते हैं और इस से उन्हें ऐसा अनुभव होने लगता

है मानों उनका गला घुट रहा हो।

अन्य रक्षात्मक उपाय

१. विष—बहुत से पौधों में विष होता है या कुछ उत्तेजक पदार्थ उपस्थित होते हैं। ऐसे पौधे भी उन जन्तुओं से जो विषले और निर्विष पौधों की पहिचान कर लेते हैं अपने आप को बचा लेते हैं।

१ दूधिया पौधे—किन्हीं पौधों में दूध के प्रकार का एक रस निकलता है जोकि अक्सर विषैला या क्षोभ उत्पन्न करने वाला होता है। जब यह दूध त्वचा पर लगता है तो उस स्थान पर जलन कर देता है इस दूध से कभी २ फफोले भी पड़ जाते हैं, कनेर, आक आदि इस प्रकार के दूधिया पौधों के उदाहरण हैं।

२. एलकेलॉईड (Alkaloids—ये भी बहुत घातक होते हैं। इनकी थोड़ी सी मात्रा ही किसी जन्तु के जीवन-हरण के लिये पर्याप्त होती है। ये बहुत प्रकार के पौधों में पाये जाते हैं जैसे Strychnine कुचला में, Morphine अफीम में और Daturine धतूरे में।

३. क्षोभक पदार्थ—बहुत से पौधों में कैलशियम ऑक्जेलेट (Calcium Oxalate) के तेज और नौकीले दाने होते हैं। जब इस प्रकार के पौधे खाए जाते हैं तो उन में स्थित Calcium Oxalate के दाने जीभ और गले को छिद्रित कर देते हैं, और गले में क्षोम उत्पन्न कर देते हैं, इस प्रकार ऐसे पौधों को चरने वाले जानवरों का शिकार नहीं होना पड़ता, इस प्रकार के पौधों का सब से अच्छा उदाहरण पान है।

तीखे स्वाद और तेज गन्ध वाले पौधे

खराब स्वाद और तेज गन्ध होने के कारण भी बहुत से पौधे जन्तुओं से अपने आपको बचाए रखते हैं। गन्धाला की बुरी गन्ध के ही कारण उसके पास कोई जाना तक पसन्द नहीं करता। तुलसी, पोदीना, ककरौंदा भी अपनी तेजगन्ध के ही कारण काफी हद तक जन्तुओं से बचे रहते हैं इसी प्रकार नीम भी अपने कड़वे स्वाद के कारण अपने आप का बलिदान करने से बचाये रखता है।

पौधों में नकल करने की आदत

बहुत से पौधे देखने में ऐसे पौधों या जन्तुओं के समान दिखाई देते है जो कि रक्षात्मक साधनों से सम्पन्न है और इस प्रकार धोका देकर वे अपने आप को जानवरों से बचाए रखते हैं। उदाहरण के लिए हम कैलेडियम (Caladium) की विभिन्न किस्मों को ले सकते है, जिनके पत्तों के ऊपर साँप की भांति धब्बे होते हैं और धारियां भी होती हैं। चरने वाले जानवर इनको साँप अथवा मरे जन्तु समझ कर छोड़ देते हैं इसी प्रकार शिलांग में वर्षा में होने वाले सपवृक्ष नाम के पेड़ को भी जानवर नहीं छूते क्योंकि वह देखने में बिलकुल फनियर के फन के सदृश दिखाई देता है।

वृक्षों पर छाल अथवा कार्क का होना भी उनके सुरक्षात्मक साधनों में से एक है क्योंकि इस से वे अपने आप को धूप और अन्य कीड़ों से बचाए रखने में समर्थ होते हैं।

★

चीन की प्राचीन गुफाएं

सरदार केवलम् म धवन पणिक्कर

तगुश्रा गुफाये चीन की गोबी मरुभूमि के बीच म हैं। यह स्थान ससार के अत्यन्त दुगम स्थानों में से है मरुभूमि के बीच में एक पर्वत श्रेणी है, जिस में लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले बौद्ध भिक्षुओं ने वैराग्य तथा तपस्या का जीवन बिताने के लिए गुफाय बनायी थीं। उन गुफाओं में उन्होंने इतने भित्ति चित्र बनाये कि ससार में उनकी तुलना कवल अज ता तथा बाघ के चित्रों से ही का जा सकती है।

जिस स्थान पर गुफायें बनी हैं वह चारों ओर से पर्वतों से घिरा हुआ है और बीच में एक सुन्दर सी घाटी है। समीप ही छोटा सा झरना शात स्वभाव से बहता हुआ दूर मरुभूमि म लुप्त हो जाता है। इस स्थान पर लगभग एक हजार वर्ष तक बौद्ध भिक्षु भक्ति तथा तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करते रहे किन्तु १४ वीं शती के लगभग मध्य काल में वे लोग यहां से चले गये और धारे धीरे लोग इस स्थान को भूल गये।

बीसवीं शताब्दी में पुन इसकी खोज से ससार म एक हलचल सी मच गई। यद्यपि १६ वीं शताब्दी में भी इक्के दुक्के विदेशी वहा पहुँचे किन्तु बीसवीं शताब्दी में सर ऑरेल स्टीन के वहा पहुचने पर ससार को यह ज्ञात हुआ कि वहा की एक गुफा में चित्रों तथा हस्तलिपियों का एक महान सग्रहालय छिपा हुआ है। सर स्टीन ने जैसे तैसे करके वहा के एक पुजारी को मना कर और ५००) रुपये का छोटा सी रकम देकर वहा से ६००० से अधिक हस्त लिपियां प्राप्त कर ली। इस के बाद फ्रांसीसी विद्वान् प लियट ने वहा की खूब छानबीन की और महत्व की सभी वस्तुए अपने साथ ले गये। जब यह ज्ञात हुआ कि लोग वहा से पुरानी पुस्तकों का बहुत कोष उठा कर विदेशों के पुस्तकालयों तथा अजायबघरों में ले गये हैं तो चीनी जनता में विक्षोभ की लहर दौड़ गयी और साथ ही वहा के विद्वानों तथा शिक्षाविदों म इन गुफाओं क प्रति रुचि पैदा हुई। बडे बडे कलाकारों के सरक्षण म वहा एक सस्था स्थापित की गय और उन गुफाओं से कुछ भी बहुमूल्य पदार्थ न ले जाने देने क लिये कानून पास किये गये। नये चीन क अधिकारियों ने यह जान लिया कि इन गुफाओं म अतीत का चीनी कला का विशाल कोष छिपा हुआ है अतएव इसकी ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया।

१६५१ में पीकिंग म एक विशाल प्रदर्शनी का आयोजन किया गया जिस में इन गुफाओं में बने चित्रों की प्रतिलिपियों के सकलन प्रदर्शित किये गये। इस प्रकार लगभग सात शताब्दी के बाद तगुश्रा गुफाए कला के महान् पुनरुत्थान का एक के द्र बन गया हैं।

तगुश्रा गुफाओं की सख्या ४६० से कम नहीं है। इन में से कुछ बहुत बड़ी तथा कुछ छोटी है। ये गुफाये मूर्तियों तथा चित्रों से सुसज्जित हैं। चट्टान काट कर गुफाय बनाने की प्रणाली, गुफाओं म बने चित्रों के कथानक तथा अन्य बहुत सी बातों से स्पष्ट ह ता है कि इन सब पर भारतीय प्रभाव बहुत अधिक है। चित्रकला तथा मूर्तिकला तो भारतीय कला स बहुत मिलती जुलती है। ऐतिहासिक अध्ययन तथा खोज से यह ज्ञात होता है कि तगुश्रा की ये गुफाये अजन्ता तथा उनकी समसामयिक अन्य गुफाओं से कम से कम दो सौ वर्ष बाद बनीं।

तग चित्रकारों ने लोगों के जो चित्र बनाये हैं वे भारतीयों तथा चीनीयों के मिले जुले चित्र जान पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त उन चित्रों के कथानक बुद्ध के बलिदानों तक ही सीमित नहीं हैं वरन् उनमें बुद्ध तथा

ब्राह्मणों का मतभेद भी व्यक्त किया गया है। एक कथानक यह है कि एक राजकुमार ने बुद्ध को शाही छतरी भेंट की जिसक ब्राह्मण मतावलम्बी राजा ने वापस लेने का यत्न किया। इस पर वह राजकुमार, उसकी पत्नी, बच्चे तथा नौकर चाकर भिक्षु बन गये। यह कथा बहुत सी गुफाओं मे चित्रित की गयी है। ज्ञात होता है कि ह्यूनसाग के भारत से वापस चीन जाने पर चीनी लोगों के मानस से भारत के विषय में यह भावना बन गयी कि भारत एक पवित्र देश है। अतएव. उन्होंने पवित्र देश (भारत) के काल्पनिक दृश्यों के चित्र बनाये। तीन बड़ी बड़ी गुफाओं में परि-निर्वाण के बाद बुद्ध की विशाल मूर्तियां बनीं हुई हैं और भक्त लोग पास में शोकमुद्रा में बैठे हैं इन मूर्तियों के निर्माण में तग कलाकारों की उत्कृष्ट कला का आभास मिलता है। बैठी हुई मुद्रा में गौतम बुद्ध की दो और विशाल मूर्तियां वहा पर हैं, जिन में से एक तो ६० मीटर ऊंची है। छोटी मूर्ति २० मीटर ऊंची है और बहुत सुन्दर है। इस विशाल गुफा की दीवारों पर असाधारण रूप से सुन्दर चित्र बने हुए हैं। तंग गुफाओं में चित्रकला तथा मूर्ति- नर्माण कला के अत्यन्त उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं।

बाद में बनी तग गुफाओं के चित्रों आदि की कला अपेक्षाकृत घटिया है। इन में बौद्ध-धर्म की पवित्रता तथा आध्यात्मिकता के भाव उतने स्पष्ट रूप से नहीं झलकते। ज्ञात होता है कि समय के साथ साथ बौद्ध आदर्शों एव मान्यताओं का प्रभाव धीरे धीरे कम होता गया। यह बाद के चित्रों तथा मूर्तियों मे स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

तंगुआ क्षेत्र जब 'साओ' के तुर्की परिवार के अधीन चला गया तो उनके शासक ने दो विशाल गुफ ये खोली और गौतम बुद्ध के जीवन सम्बन्धी अत्यन्त सुन्दर चित्रो से उनको सुसज्जित किया। उस समय के कलाकारो ने नये चित्र तथा मूर्तिया बनाने के अतिरिक्त पुराने चित्रों को फिर से ताज़ा कर दिया।

इसके बाद मंगोल खानदान के समय में तंगुओं के वातावरण मे एक बड़ा परिवर्तन हुआ। तंत्र विद्या में विश्वास होने के कारण उस समय कलाकारों ने मैथुन क्रियाओं के चित्र बनाये। कलात्मक दृष्टिकोण से ये भी सुन्दर चित्र हैं।

तंगुआ गुफाओं में बौद्ध विचारों को व्यक्त करने वाले चित्रों का आधिक्य है। किन्तु इनके साथ ही साथ वहा की बहुत सी गुफाओं में साधारण दिनचर्या के दृश्यों को भी चित्रित किया गया है। नृत्य, गायन तथा अन्य आमोद प्रमोद के चित्र भी वहां मिलते हैं। इस प्रकार इन गुफाओं में बने चित्र तथा मूर्तियां विभिन्न मतावलम्बियों की कला का दिग्दर्शन कराती है। इन गुफ ओं को निश्चय ही एशिया का एक महान् कला भंडार कहा जा सकता है।

अब, सब से आवश्यक बात यह है कि भारत तथा चीन, दोनों देशों में भित्ति चित्रों के संरक्षण में लगे लोगों को एक दूसरे के निकट सम्पर्क में पूर्ण सहयोग से काम करना चाहिये। यह भी आवश्यक है कि अजन्ता, बाघ तथा तगुआ की गुफाओं की कला का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय।

★

अहिंसा

आचार्य विद्यानन्द विदेह'

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथो अरिष्टतातये ॥ (अ० ६ १९ २)

(पवमान॰) पवित्रकर्ता परमेश्वर (मा) मुझे (नातु) पवित्र करे । किस लिए ? (१) (क्रत्वे) सुकर्म करने के लिए, (२) (दक्षाय) दाक्षिण्य, दक्षता, बुद्धि शक्ति सामर्थ्य पुरुषार्थ के लिए, (३) (जीवसे) जीवितों के समान जीने के लिए, (४) (अथो) और (अरिष्ट-तातये) अहिंसा-न्याय के विस्तार के लिये ।

❀ ❀ ❀

प्रथम अरिष्ट-अहिंसा' पर विचार कीजिये । महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन के साधनपाद म ३५ वे सूत्र में कहते हैं— अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग ' अहिंसा स्थिति में उस के समीप वैरत्याग होता है । अहिंसा की सिद्धि हो जाने पर योगी के समीप वैर का त्याग हो जाता है । यह इस सूत्र का शब्दार्थ तथा भावार्थ है ।

इस सूत्र से यह तात्पर्य लेना कि जिस को अहिंसा की सिद्धि हो जाती है उस से कोई वैर नहीं करता हिंसक प्राणी व पुरुष उस के प्रति हिंसा का त्याग कर देते हैं, सर्वथा भ्रान्त, अव्यावहारिक अयुक्त और असिद्ध है । क्राइस्ट सर्वथा अहिंसक थे, परन्तु उन की हिंसा का गई । बुद्ध और महावीर अहिंसासिद्ध महात्माओं को भी सताया गया । अहिंसाव्रता शंकर और दयानन्द को विष पिलाया गया और गाधी को पिस्तौल से मारा गया । जन्म से अहिंसक गौ जैसे प्राणी की भी हिंसा की जाती है ।

इस सूत्र का त्रिकालसिद्ध, व्यावहारिक तथा स्वाभाविक अर्थ यह है कि अहिंसासिद्ध पुरुष वैर का त्याग कर देता है' न्यायाधीश न्याय भाव से अपराधी को मृत्यु दंड देता है तो अहिंसा है, यदि वैर भाव से ऐसा करता है तो हिंसा गुरु सुधार भाव से शिष्य को ताड़ना करता है तो अहिंसा है वैर भाव से ऐसा करता है तो हिंसा है । सैनिक राष्ट्र रक्षा की भावना से आक्रमणकारियों का हनन करता है तो अहिंसा है यदि वैर भाव से ऐसा करता है तो हिंसा है ।

अहिंसा हिंसा का निर्णय कर्म से नहीं भावना से होता है । न्याय, सुधार और रक्षा की भावना से किया गया कोई भी और कैसा भी कर्म अहिंसा है । वैर भावना से किया गया कार्य हिंसा है । सुधार और रक्षा भी न्याय के अन्तर्गत हैं । सुधार न्याय है, रक्षा न्याय है । अत अहिंसा का सही अर्थ है न्याय । अब उपर्युक्त सूत्र का अर्थ पूर्णत स्पष्ट, व्यापक और व्यावहारिक हो जाता है—(अहिंसा-प्रतिष्ठाया) न्याय में प्रतिष्ठित-संसिद्ध होने पर (तत्सन्निधौ) उस [अहिंसक न्यायशील) के समीप में (वैर त्याग) वैर का सर्वथा त्याग हो जाता है । अहिंसक-न्यायशील वह है जो वैर भाव से सर्वथा रहित हो कर सब के प्रति निष्पक्षपात और न्याय के साथ बर्तता है । न्याय = अहिंसा । अन्याय = हिंसा

अब मन्त्र का अर्थ अतिशय स्पष्ट हो गया और विशेष व्याख्या की अपेक्षा नहीं रही । कुछ संकेतमात्र स्पष्टीकरण ही पर्याप्त होगा । पवित्रता प्राप्ति के अनेक उपाय हैं परन्तु सब मे श्रेष्ठ और अचूक साधन है ईशाराधन । परमेश्वर परम पवित्र है । अतः ईश्वर

लेखन एवं मुद्रण में अशुद्धियां और नागरी लिपि में सुधार

श्री चन्द्रकिशोर शर्मा

लेखन एवं मुद्रण की अशुद्धिया और नागरी-लिपि-सुधार आज की विचारणीय समस्याएं हैं। स्पेलिंग की अशुद्धिया हो जाने में जहा, उच्चारण एवं श्रवण सम्बन्धी भूलें, व्याकरण सम्बन्धी भूले और भिन्न-भिन्न स्थानों की बोलियों के लहजे आदि कुछ कारण हैं—वहा, नागरी लिपि की दुरूहता एव मुद्रण सम्बन्धी दोष भी विचारणीय हैं। विद्वज्जन इन पर यदा-कदा लिखते रहते हैं और विद्यार्थियों के उत्तर-पत्रों को जाचने वाले परीक्षकगण अशुद्धियों और उन के प्रकारों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाते रहते हैं। उन के द्वारा विषयो पर प्रकाश तो पड़ता है परन्तु वैज्ञानिक रीति से इन पर विचार नही के बराबर है। आज लिपि-सुधार की चर्चा है, इसलिए आवश्यक है कि लिपि के सुधार में उस दृष्टि से विचार किया जाय कि लिपि-दोष से होने वाली अशुद्धिया भी दूर हो सकें और लिपि पूर्ण उच्चारणानुयायी भी बन जाय। साथ ही वे अड़चने भी दूर हो जाय जो हमारी लिपि के लिए, लेखन मुद्रण के आधुनिक यान्त्रिक साधनों से सुविधा पूर्वक लाभ न उठाने देने में बाधक हैं।

स्वर और मात्राएँ

इ ई उ ऊ—नागरी लिपि में ह्रस्व इ की मात्रा दोष पूर्ण है क्योंकि वह क+इ (ि)=कि की भाति, उच्चारण-क्रम के विरुद्ध अक्षर से पहले लगती है। युक्ताक्षरों में तो इस मात्रा से और भी अधिक भ्रम होता है जबकि किसी के द्वारा 'इन्स्टीट्यूट' और किसी के द्वारा 'इन्स्टिट्यूट' लिखा मिलता है

की उपासना, प्रार्थना और भक्ति से पवित्रता की प्राप्ति होती है। अन्दर और बाहर से पवित्र होने पर मनुष्य सुकर्मा और शक्तिमान् बनता है। पवित्रता ही सत्कर्म की प्रेरक और शारीरिक तथा आत्मिक शक्तियों का सञ्चार करने वाली है। पवित्रता, सत्कर्म और बल से युक्त जीवन ही जीने योग्य जीवन है, सच्चा और सार्थक जीवन है, जीवित जीवन है और ऐस जीवन वान् ही संसार मे न्याय की स्थापना करते हैं।

न्याय सर्वोपरि है। न्याय यम नियम की आत्मा है, मानवता का दुग्ध है, योग का आधार है और धर्म का स्तम्भ है। सत्य सत्य के लिए प्यारा नहीं है, न्याय के लिए प्यारा है। अस्तेय अस्तेय के लिए नहीं है, न्याय के लिए है। ब्रह्मचर्य किसी काम का नहीं, यदि उस से न्याय का रक्षण नहीं होता। अपरिग्रह की साधना न्याय के ही लिए है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान सब व्यर्थ हैं, यदि उन से न्याय का प्रतिपादन नहीं होता।

शासन, व्यवस्था, नीति, रक्षा, समाज, राष्ट्र सब न्याय के ही लिए हैं। इन का कोई महत्व नहीं, यदि ये न्याय की रक्षा नहीं कर सकते। माता से, पिता से, गुरु से राजा से, राष्ट्रपति से, सब से न्याय की अपेक्षा की जाती है। न्याय से बढ़ कर न कोई धर्म है न आचार, न कोई साधना है न सिद्धा, न कोई शासन है न व्यवस्था। जो न्याय तुला पर पूरा नहीं उतरता, वह न्यून है, हेय है

पावन प्रभो ! मुझे पवित्र कर, मुझे सुकर्म की प्रेरणा कर, मुझे सशक्त बना, मुझे जीवित जीवन से युक्त रख, ताकि मैं सर्वदा सर्वत्र न्याय की रक्षा कर सकूं।

★

ह्रस्व इकार की मात्रा द्वारा लिखने वाले कोई कोई सज्जन थोड़ा अधिक स्पष्ट करने के लिए 'इन्सटिटयूट' भी लिख देते हैं। एक साइनबोर्ड में 'गोल्ड स्मिथ' को गोल्ड स्मिथ' लिखा देखा गया है इसे उस लिपि कार की अल्पज्ञ ता कहिये या अधिक चतुरता कि जिस से बिना प्रयास ही शुद्ध पढ़ा जाने के विचार से ऐसा सरल मार्ग अपनाया है। 'इस्थिति' लिख कर तो किसी ने स्थिति को स्पष्ट ही कर दिया है।

नागरी लिपि में इ की मात्रा (ि) और अर्द्ध र (ै) चिन्ह उच्चारण क्रम के विपरीत एक दूसरे के प्रतिकूल व्यवहृत होते हैं, इस कारण यह पूर्ण उच्चारणानुयायी नहीं कहलाई जा सकती और ना ही यह नियम बन सकता है कि जो चिन्ह बाद में लिखा जाय (चाहे ऊपर या नीचे) वह बाद में ही पढ़ा जाय, क्योंकि वर्तमान अवस्था में र्प को प र की तरह प्र नहीं पढ़ा जा सकता। इस लिए सुझाव है कि इन दोनों चिन्हों का परस्पर अदल बदल कर दिया जाय। ऐसा करने पर 'अर्चित' जैसे (ि और ै) दोनों चिन्हों वाले शब्द तो ज्यों के त्यों रहेंगे किन्तु अर्चन' को 'अर्चिन' और 'अर्चिन' को अर्चन पढ़ना लिखना पड़ेगा। प्रचलित क्रम के कारण आगे इस अदल बदल से असुविधा न हो अतः उन में कुछ रूपान्तर द्वारा सशोधन कर दिया जा सकता है।

यों यह आकार (ै) इ का दीर्घीकरण चिन्ह अर्थात् ई=इ+इ (ै) होने से ह्रस्व इ की मात्रा है और विद्यार्थी पहले ऐसा ही सीखता है अतः ऐसा मनवाना सरल है। इस पुष्टि में उ से ऊ बनाने में लगने वाला अकुश और ए से ऐ बनाने में लगने वाला मात्रा चिन्ह उपस्थित किया जा सकता है इन में से प्रथम, रु लिखने में ह्रस्व उ की मात्रा काम देती है और द्वितीय, सभी व्यञ्जनों में ए की ध्वनि व्यक्त करने में लगता है। प्रकारान्त से आ में लगा हुआ पाई का चिन्ह (ा) भी आ=अ+अ (ा) होने से अ का रूप है जो सभी व्यञ्जनों में इसका सूचक है। इस को हटा देने से वे नि स्वर हो जाते हैं।

दूसरा सुझाव इस (ि) मात्रा को बदल देने विषयक है। यू० पी० की लिपि सुधार समिति ने इसका बदलना स्वीकार कर लिया है। किन्तु उसके द्वारा जो आकार निश्चित किया गया है—अपेक्ष कृत कठिन है और नागरी लिपि के अनुरूप नहीं है अधिक अच्छा हो कि उस पर पुनर्विचार करके कोई अन्य सरल आकार चुना जाय।

लिपि दोष के कारण उ ऊ की मात्राए र में इस प्रकार (रु रू) विकृत होकर लगती हैं, जब कि अन्य व्यञ्जनों में कु मु आदि की भांति प्रयुक्त होती हैं। किन्तु देखने मे आता है कि क ई-कोई उ हैं र में भी इसी प्रकार लगा कर रु रू लिख जाते हैं। भले ही यह अशुद्ध नहीं हैं अशुद्ध तो वह इसी कारण माना जाता है कि रु रू के आकार पहले से निश्चित हैं। रु रू क्यों नहीं लिखा जाता—इसके सिवाय कोई कारण नहीं जान पड़ता कि द्रुत हस्त लेखन (घसीट) में रु का उ ड ठु डु हु बन जाता है और रू को ड़ ढू हू पढ़ लिया जाने का अन्देशा हो सकता है। यदि देखा जाय तो ट ड द ह में भी तो ये मात्राए ऐसे ही भ्रम उत्पन्न करती हैं किन्तु उनके विषय म वैसा कुछ नहीं किया गया है। अत जब घसीट में लिखे हुए टुक को डक हुक हुक टूट को इट हूट दूत, दूसरा को इसरा हूसरा, दुआ को डुआ टुआ, इक को हक टक, ढढ़ का हढ़ इढ और इसी प्रकार स्वामी को स्वामी पढ़ लिया जाता है तो कोई कारण नहीं कि रु रू को रु रू न लिखा जाया करे। आज तो इस प्रकार लिखने के सुझाव भी दिये जा रहे हैं ताकि उ ऊ की मात्राओं को विकृत होने से बचाया जा सके, लिपि की दुरूहता दूर करने में सहायता मिले और मुद्रण एव लेखन यन्त्र

के लिए चिन्हों की संख्या में कमी हो सके। बंगला लिपि में भी इस प्रकार का सुधार उ ऊ की मात्राओं के सम्बन्ध में हो रहा है और पाठशालाओं में दोनों रूप ठीक माने जाते हैं।

लिपि दोष से होने वाली अशुद्धियों और कथित भूल से बचना ही योग्य है तो उ ऊ की मात्राओं के रु रू में लगे जैसे आकार ही कुछ रूपान्तर करके सर्वत्र प्रयोग के लिए ले लिये जावें। यदि यह नहीं तो र का ही आकार बदल दिया जाय क्योंकि इस आकार के कारण ही उ ऊ की मात्राएं विकृत होती हैं और यही आकार आगे युक्ताक्षरों में विभिन्न रूप धारण करता है। फिर उ ऊ की मात्राएं और र का एक अन्य रूप (्) और अर्वाशिष्ट ध्वनि चिन्ह (.) अक्षर के नीचे लगते हैं अन्तिम दोनों में से किसी के साथ जब उ या ऊ की मात्रा आ जाती है तो वह अक्षर पर ठीक प्रकार नहीं लगती—एक-एक चिन्ह अक्षर से अलग जा पड़ता है। ट्रूप ट्रूमैन एण्ड्रूज पढ़ूगा प्रभृति शब्द तो नित्य ही समाचार पत्रों में देखने में आते हैं—किस किस प्रकार छपे होते हैं। इस लिए यह कल्पक विशेषतः र को ही बदलने के सुझाव पर अधिक बल देता है। इस सम्बन्ध में व्यञ्जन-खण्ड में भी कुछ लिखा जायगा। यदि र बदल कर पाई वाला आकार दे दिया जाता है तो अक्षर पर ऊपर और नीचे लगने वाले प्रचलित विकृत और अर्द्ध रूप (् र्‍) के चिन्हों से छुट्टी मिल सकती है और अक्षरों के सिर और पाव पर पड़ने वाला, मात्रा आदि चिन्हों का, बोझ हट जाने से खुलापन आ जाता है जिससे नेत्रों को आराम मिल सकता है और मुद्रण एवं यन्त्र लेखन में किञ्चत सुगमता आ सकती है।

ऋ ॠ—में से हिन्दी में ऋ रक्खा गया है। ॠ का प्रयोग न होने से लिपि में उसका स्थान नहीं रहा है। ऋ का उच्चारण रि की तरह होता है इस लिए लिखने और छापने की सरलता और उच्चारण की समानता के कारण कोई-कोई, ऐसी ध्वनि वाले सस्कृतेतर भाषाओं के शब्दों में भी र या रि की जगह ऋ का प्रयोग कर जाते हैं, यथा—'ब्रिटेन' के बदले 'बृटेन'। कभी-कभी ऋ की जगह र या रि का प्रयोग पाया जाता है और ग्रह, गृह एक दूसरे के स्थान पर मिलते हैं, एक पत्र में 'उद्धृत' का 'उद्धरित' कई बार छपा हुआ देखा गया है. मालूम होता है यह अशुद्धि मात्रा ए ऊपर नाचे लगने के दोष और उस शब्द को बनाने में टाइप विशेष के उपलब्ध न हो सकने से हुई है। कम्पोज़ीटरों के सन्मुख ऐसी कठिनाइयां अक्सर आती रहती हैं। यदि ऋ का प्रथम 'र' अंश छोड़ कर शेषांश अर्थात् अन्तिम भाग उसकी मात्रा मान लिया जाय तो मुद्रण में उक्त प्रकार की अशुद्धियां होने का अवसर प्रायः न आये। मात्रा का यह आकार व्यञ्जन के बाद उसी प्रकार बिठाया जा सकता है जिस प्रकार कि ऋ में है।

ए ऐ ओ औ—यह दोनों जोड़े के वर्ण मिश्रित ह्रस्व और मिश्रित दीर्घ के क्रम से हैं। इनके अतिरिक्त बोलने में हमारे मुख से उनके बीच की ध्वनियां भी निकलती हैं जो कैसा (तैयार) कौन (कौवा) में स्पष्ट है उन्हें मिश्रित मध्यवर्ती ध्वनियां नाम दिया जा सकता है परन्तु हमारी लिपि में उनके लिए चिन्ह नहीं हैं, उनका काम मिश्रित दीर्घ मात्राओं से ही लिया जाता है। इस लिए कहीं-कहीं विशेषतः पूर्वी जिलों में, मिश्रित मध्यवर्ती ध्वनियों के उच्चारण भी मिश्रित दीर्घ अर्थात् कइसा कउन से मिलते-जुलते होते हैं। कदाचित इसी कारण कोई-कोई ऐसे ध्वनि-भेद को स्पष्ट करने के लिए तैयार को तय्यार और कौवा को कव्वा की तरह य व के द्वित्व द्वारा लिखते हैं। यदि मिश्रित मध्यवर्ती ध्वनियों के चिन्ह भी निश्चत कर दिये जांय तो उक्त उच्चारण भेद मिट सकता है।

वर्तमान अवस्था में ए ऐ और ओ औ के जोडे के वर्णों में उच्चारण भेद काफी स्पष्ट है इस लिए इनके द्वारा अक्षरों की अशुद्धिया प्रायः नहीं होतीं। किन्तु इनकी मात्राओं की बनावट ऐसी है कि मुद्रण में इनके टाइप बहुत ही जल्द टूट जाते हैं और छपा हुआ कुछ का कुछ पढ़ा जाता है, प्रसंग और भाव समझ कर ठीक भी पढ लिया जाता है फिर भी विलम्ब तो होता ही है। इस लिए इनकी मात्राओं के आकार बदल देना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। अन्यथा अशुद्ध छपाई का क्रम चलता ही रहेगा और 'बच्चा बिना चबाये ही कौर निगल गया' के बदले 'बच्चा बिना चबाय ही कार निगल गया,' 'गणतन्त्र दिवस पर ट्रमन का नहरू का धन्यवाद,' आदि-आदि पढने को मिलता ही रहेगा।

एक बात यह कि नागरी लिपि में 'अक्षराधिक्य' भी यान्त्रिक साधनों (विशेषत टाइप राइटर, लाइनो टाइप, आदि यन्त्रों) के लिए एक समस्या है, यदि ए ऐ को ओ औ की भांति अ पर मात्राए लगा कर गुजराती जैसा अे अै लिखा जाया करे तो एक चिन्ह ए की कमी की जा सकती है क्योंकि ए ऐ भी ओ औ जसे ही मिश्रित स्वर हैं। इस उपाय से यह शिकायत भी मिट सकती है कि ऐ में एक मात्रा है—फिर व्यञ्जन में उस के लिए दो क्यों लगती हैं? भले ही यह शिकायत सार पूर्ण नहीं है क्योंकि एक मात्रा तो ए का रूप है और ऐ=ए+ए होता है इस लिए ऐ का यह रूप ए+ए (`) से बना है अतः ै की मात्रा े+े= ै हुई। यदि ओ औ के लिए अ से भिन्न कई आधार होता तो उसके सम्बन्ध मे भी वैसी ही बात होती आ ई ऊ ॠ की मात्राओं के विषय मे भी यही बात है। इस लिए लिपि वैज्ञानिकता की माग तो यह है कि ओ औ के लिए भी ए ऐ के ए की भांति कोई पृथक चिन्ह होना चाहिए। परन्तु यह कल्पक एक नियमता लाने और अक्षर सख्या कम करने के विचार से ई ऊ का भी छोड़ कर केवल ४ मुख्य (ह्रस्व) स्वर चिन्ह अ इ उ ऋ रखने और शेष मात्राओं द्वारा बनाने का सुझाव उपस्थित करता है। इस से 'पृथक पृथक मुख्य ध्वनियों के पृथक पृथक चिन्ह' की बात भी बनी रहती है और लिपि की सुन्दरता भी। केवल एक आधार-स्वर चिन्ह द्वारा सब स्वरों को बनाने के पक्ष में विशेषत. इस लिए नहीं है कि सब स्वरों के बनाने का भार एक ही अक्षर पर आ पड़ने से मुद्रण में उस के टाइप जल्द घिस कर छपाई को भद्दा करेंगे और फिर शीघ्र ही बेकार हो जाया करेंगे। लेखन यन्त्र मे भी उसका आकार अन्यों से जल्द घिस जाया करेगा। आग्ल लिपि का एक स्वर ई (e) जो सब से अधिक काम आता है इस बात की पुष्टि के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है भले ही टाइप फाउट में उसके टाइपों का सख्या सब से अधिक रक्खी जाती हो।

स्वरों की भांति ही मात्राओं की सख्या भी कम अथवा न्यूनतम की जा सकती है। ध्वनियों की मात्राए सम्मिलित कर लेने पर भी मात्राओं की सख्या प्रचलित मात्रा सख्या से अधिक नहीं बढ़ती है।

अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु—इन दोनों के प्रयोग मे अक्सर अशुद्धिया पाई जाती हैं और एक ही जगह दूसरा लिखा छपा मिलता है। ध्वनि-भेद तो इनका न्यूनाधिक स्पष्ट है सो उच्चारण के विचार से अशुद्धि होनी नहीं चाहिए किन्तु अशुद्धिया हो जाने में मुद्रण भी कुछ कारण है। मुद्रण के लिए टाइप बनाने की कठिनाई से में मैं हें हैं आदि चन्द्रबिन्दु युक्त न होकर अनुस्वार युक्त छपते हैं और बार-बार हमारी आँखों के सामने आते रहते हैं इस लिए लिखने में भी लोगों को वैसी ही आदत पड़ गई है और अनुस्वार तथा चन्द्रबिन्दु के भेद का विचार नहीं रह गया है। यह दोष अन्यथा ठीक नहीं हो सकता

जब तक कि इनको परस्पर बदल न दिया जाय अथवा इनके आकार और लगाने के स्थान ही परिवर्तित न कर दिये जाय। चन्द्रविन्दु का प्रयोग अनुस्वार की अपेक्षा अधिक है अतः इसका चिन्ह अनुस्वार से सरल होना चाहिये।

अक्षर के ऊपर और नीचे लगने वाली मात्राएं अक्षर की चौड़ाई का अधिकाधिक भाग ढक लेती हैं। मुद्रण में किसी मात्रिक अक्षर पर कोई अन्य चिन्ह दिया जाता है तो वह ठीक प्रकार न लग कर अलग रहता है जिस से शब्द का अगला अक्षर (यदि हो) एक शिरो रेखा से न बँधा रह कर दूर पड जाता है मानो वह कोई दूसरा शब्द हो, इस लिए मुद्रण के टाइपों में अक्षर के ऊपर लगने वाले चिन्ह मात्राओं के साथ ही ज्यों त्यों कर ढाले जाते हैं। तब अनुस्वार के बिन्दु के अतिरिक्त, चन्द्रबिन्दु जैसा बड़ा चिन्ह मात्राओं के साथ टाइप बाडी मे नहीं समा सकता। मात्राए जब अर्द्ध र युक्त भी हों तो चन्द्रविन्दु आ ही नहीं सकता। इस लिए वे मात्राएं चन्द्रविन्दु युक्त नहीं बनतीं। तब लाचारी ही है और यही भाव रहता है कि विषय और प्रसंग के अनुसार ही ऊपर के बिन्दु को अनुस्वार अथवा अनुनासिक पढ़ लिया जाय। किसी-किसी टाइप फाउण्ड्री ने यथा सम्भव कुछ मात्राओं के साथ चन्द्रविन्दु को टेढ़ा तिर्छा रख कर ढालने मे प्रयत्न भी किया है किन्तु मात्राओं का शीघ्र टूट जाना कदाचित अन्यों को इस प्रयास के प्रति अनुत्साहित किये हुए है।

अक्षर के नीचे लगने वाली मात्राओं के सम्बन्ध में बात यह है कि उनकी बनावट के कारण उनकी बाडी में अन्य चिन्ह दिया ही नहीं जा सकता, परिणाम यह होता है कि 'पढ़ूँगा' जैसे शब्द ठीक प्रकार नहीं छपते जब कि उनके स्पेशल टाइप ही न बनवा लिये गये हों। फ्रूट, फ्रेम, वर्ड्स, कैंची आदि शब्द ठीक तरह नहीं लिखे जा सकते, जिनमें कि मात्रादि चिन्ह ऊपर भी लगते हों और नीचे भी और दो-दो, तीन-तीन चिन्ह एक साथ ही आ जाते हों। इस प्रकार या तो अक्षरों की अशुद्धिया हो जाती हैं या मुद्रण कौशल-हीन रहता है। इस कल्पक की आँखें तो लॉजिक (मुद्रित) में लॉ और जिक के मध्य (ॉ के बाद ी आ जाने से) जो तनिक सा अधिक अन्तर आ जाता है—उसको भी देखना पसन्द नहीं करतीं। यदि यह लेखक गलती पर नहीं है तो लिख सकता है कि यू० पी० की लिपि सुधार समिति तो इस कौशल हीनता का क्षेत्र और भी विस्तृत करना चाहती है जब कि वह कर्न्ड या डिग्रोदार टाइप ढालने से छुटकारा दिलाने के लिए मात्रादि चिन्हों वाले शब्दों के मध्य आने वाले खाली स्थान की पूर्ति का प्रबन्ध किये बिना 'बरगद' 'क ॅ ँ च ी' की तरह लिखने का निर्णय करती है।

आ उ ऊ को मात्राओं के साथ मुद्रण में चन्द्रबिन्दु यथावश्यक दिया जा सकता है (किन्तु अर्द्ध र भी साथ हो तब नहीं) अतः वैसे शब्द शुद्ध छपने चाहिये। किन्तु यहाँ कुछ दोष, नागरी टाइप केसों के एक-एक खाने मे २-२, ३-३ प्रकार के अक्षर भरना पड़ना और किसी अवस्था मे किन्हीं कम्पोज़ीटरों का अल्प शिक्षित होना भी समझा जा सकता है। जब कि वे बिना विचारे ही अनुस्वार या चन्द्र बिन्दु जो कुछ हाथ आया, लगा देते हैं, शायद इस कारण कि जब वे देखते हैं कि अन्य मात्राओं के सम्बन्ध में वैसा कुछ सोचा ही नहीं जा सकता। तब तो अकेले अनुस्वार और चन्द्रविन्दु के प्रयोग में भी यही होता है जिस से 'साथ' का 'साँथ' हो जाता है और 'हँस' का 'हंस' बन जाता है। इस प्रकार की अशुद्धियाँ अक्सर होती रहती हैं और चलती रहती हैं तभी वे उपेक्षित रह जाती हैं, कारण कि लोग मुद्रण की शुद्धता की कसौटी

साहित्य-परिचय

[समालोचना के लिए पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है। —सम्पादक]

गीता सार (गोस्पेल ऑफ गीता)—लेखक व प्रकाशक—श्री डॉक्टर सुन्दरलाल भण्डारी, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार। आकार २०×३०/३२, पृष्ठ संख्या २१७, मूल्य बारह आने।

बरसों गीता का स्वाध्याय करने से लेखक ने जो रस प्राप्त किया था उस का आस्वादन दूसरों को भी कराने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है। गीता के चुने हुए दो सौ श्लोकों का सरल हिन्दी और अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत का मूल श्लोक भी दिया गया है। लेखक ने अपने युरोप भ्रमण में अनुभव किया कि विदेशों में भी गीता को तथा हमारे अन्य प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ने की इच्छा है, इस लिए अंग्रेजी अनुवाद देना आवश्यक समझा। प्रारम्भ में अठारह पृष्ठों की एक भूमिका है जिस में

मानते हैं। बस ऐसी ही कुछ कठिनाइयां हैं जो सर्व साधारण को ज्ञात नहीं है। १० मात्राओं के भिन्न २ चिन्हित ४०-५० रूप ढालने पर भी मुद्रण कौशलहीन ही रहता है। लेखन यन्त्र में अक्षर के ऊपर नीचे लगने वाले मात्रादि चिन्हों के लिए मृत-कुञ्जियों की व्यवस्था करनी पड़ती है जिनका आघात हाथ से लिखने के क्रम के विपरीत, अक्षर से पहले होता है, फलतः लेखन में असुविधा होती है, अशुद्धियां हो जाती हैं, बैक स्पेसर का प्रयोग बढ़ जाता है और यन्त्र लेखन की गति बहुत मन्द रहती है। इन सब का कारण मात्रादि चिन्हों की बनावट है। इस लिए इनको यन्त्र सुलभ बनाने पर विचार अपेक्षित है।

स्पेलिंग की अशुद्धियों के सम्बन्ध मे 'विशाल भारत' और 'नवभारत टाइम्स' द्वारा श्री आदित्य अवस्थी महोदय ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया है और 'सरस्वती' नवम्बर १९५१ में श्री महाजन महोदय ने एक शब्द 'अँगरेजी' के कई रूपों में लिखा जाने को लेकर इस ओर कुछ संकेत किया है कि कोई उसे अनुस्वार से कोई चन्द्रबिन्दु से और कोई ङ से लिखता है। कोई ग र को अलग-अलग लिखता है तो कोई मिला कर। फिर एक ही पाठ में कहीं किसी तरह और कहीं दूसरी अथवा तीसरी तरह लिखा हुआ देखने में आता है। अनुरूपता कदाचित ही कहीं देखने में आती है। परन्तु निर्णय नहीं कि शुद्ध क्या है। इसके अतिरिक्त अन्य यह कि भिन्न भिन्न फाउण्ड्रियों के टाइपों में कुछ अक्षरों के आकारों की भिन्नता होती है इस कारण लेखन और मुद्रण में और भी बहु-रूपता आजाती है, सादृश्य नहीं रह पाता। माना कि नागरी में कोई शब्द किसी न किसी तरह लिखा ही जा सकता है और यह लिपि का एक महान् गुण कहा जाता है परन्तु इस बहुरूपता के कारण भी इसके प्रति रुचि बढ़ना विलम्बित हो रहा है। अतएव इन असुविधाओं, दुविधाओं और अशुद्धियों को दूर करने के लिए और लिपि को यन्त्र-सुलभ बनाने के लिए कुछ करना ही होगा। आज अनेक विद्वान् इसकी मांग करते हैं और केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय आदि सभी उच्च क्षेत्रों में तद्विषयक चर्चा है।

[इस लेख में प्रकट किये गये विचारों के सम्बन्ध में अन्य विद्वान् भी अपने विचार भेजेंगे तो हमें प्रकाशित करने में प्रसन्नता होगी। —सम्पादक।]

★

गीता की महिमा, गीता में प्रक्षेप आदि विषयों पर विचार किया गया है। श्लोकों को चुनने में यह ख्याल रखा गया है कि गीता की शिक्षाएं और विशेषत ए प्रतिपादन करने वाला कोई श्लोक छूट न जाय। जो लोग समय की कमी से सम्पूर्ण गीता का प‚ना कठिन समझते हैं वे इस गीता के सार को पढ़ कर गीता के बोध प्रद शिक्षाओं को प्राप्त कर सकते है। संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी जानने वाले सभी स्वाध्याय-शील जनों के लिए यह पठनीय है।

विदेह गीताञ्जलि—रचयिता, आचार्य विद्यानन्द विदेह। प्रकाशक वेद संस्थान अजमेर। १४४ पृष्ठ, आकार १७×२७/१६ माघ २००८ वि०। मूल्य १।)

'रसना ओम् ओम् जप र'। क्यों सोता है च दर ताने' इस प्रकार के कोई २६३ छोटे छोटे गीतों का संग्रह है। श्री विदेह की ये अन्त प्रेरित पाक्त‍ा सुन्दर हैं।

कल्याण का भक्त चरितांक—प्रकाशक-गीता प्रेस, गोरखपुर। मूल्य ७॥)

अपनी परम्परा के अनुसार प्रतिवर्ष की भांति कल्याण के सञ्चालकों ने ६१८ पृष्ठों का यह विशेषांक प्रस्तुत किया है। कोई ५५० भक्तों के चरित्र तथा २२६ चित्र दिये हैं। भक्तों और महात्माओं की हृदय को पवित्र करने वाली वाणियों को भी संगृहीत किया है।

—रामेश बेदी।

ब्रजचन्द्र चकोरी-मीरा—लेखक श्री कृष्ण प्रभाकर तथा श्याम बिहारी। श्री राधिका पुस्तकालय, राधाकृष्ण भवन मथुरा मूल्य ५)

भक्तशिरोमणि मीराबाई की जीवन-प्रणाली, काव्य-साधना और भक्ति-भावना का सम्पूर्ण रूप से निरूपण करने वाला यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में पहिला ही है। विज्ञ लेखकों ने इस के आकलन में खूब खोज की है और बड़ा परिश्रम उठाया है। पुस्तक की ८५ पृष्ठों की भूमिका में मीराबाई की जीवन कथा के विषय में अच्छी छानबीन की गई है। पुस्तक के पूर्वार्ध में भक्त के रूप में उनकी साधना का निरूपण और विवेचन बड़ा मार्मिक और मुहावरेदार भाषा में किया गया है। भाषा का प्रवाह और उस की भक्तिरसानुरूप गठन देखते ही बनती है। पुस्तक के उत्तरार्ध में उनकी कविताओं और वाणियों का संग्रह किया गया है। उन के लिखे गुजराती पदों का भी टिप्पणी सहित सम्पादन किया गया है। आशा है यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में अच्छा गौरव प्राप्त करेगा। छपाई सफाई सुन्दर और शुद्ध है।

हमारी अर्थनीति—ले० सन्तराम अग्रवाल, रामराज्य परिषद्-चौक फुहारा अमृतसर।

इस पुस्तक में लेखक ने भारत का प्राचीन अर्थ-नीति का गौरव महाभारत, चाणक्य अर्थशास्त्र, जातक ग्रन्थ शुक्रनीति आदि के आधार पर अङ्कित किया है तथा यह सुझाव दिया है कि वर्तमान शासकों को भारत की पुरानी अर्थनीति से ठीक-ठीक प्रेरणा लेनी चाहिए अर्थात् अपनी अर्थनीति को बनाने में हमें अपना परम्परागत आर्थिक प्रणालियों की अवहेलना नहीं करना चाहिए।

कल्पना—(साहित्यिक तथा सांस्कृतिक द्वैमासिक पत्रिका) सम्पादक—डाक्टर आर्येन्द्र शर्मा। वार्षिक मूल्य १२) रुपये बेगम बाजार, हैदराबाद दक्षिण।

हैदराबाद (दक्षिण) सदृश अहिंदी प्रदेश से प्रकाशित 'कल्पना' सा उन्नत कक्षा की तथा सुरुचि से भरी हुई पत्रिका का निहार कर बड़ा हर्ष और परितोष हुआ। पत्रिका का पाठ्य मसाला खूब स्वस्थ और ज्ञानप्रद है। इतनी अच्छी और सुरुचि से चुनी हुई पाठ्य सामग्री तो हिन्दी की पुरानी और प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में भी आजकल देखने को नहीं मिल रही। कौन जाने क्या बात है कि महायुद्ध के पश्चात् हिन्दी

गुरुकुल-समाचार

ऋतु रंग

मधुमास (चैत्र) की शोभा और रौनक चहुँ ओर व्याप्त हो रही है। वन उपवन पुष्प मञ्जरियों से महक उठे हैं। शहतूतों की वृक्षराजियाँ छोटे छात्रों के क्रीड़ा कल्लोल से गूञ्ज उठी हैं। इस साल आमों पर बहुत कम मौर आया है। गुरुकुल की गेहूं और चने की खेतियां कट चुकी हैं। दिन तपने लगे हैं। रातें शीतल और सुहावनी हैं। छात्रों का नहर स्नान और तैरिया प्रारम्भ हो चुकी हैं। नए-नए ग्रीष्म कालिक प्रवासी पंछियों से कुल कानन फिर से चहक उठे हैं। कुलवासियों का स्वास्थ्य अच्छा है।

मान्य अतिथि

उस दिन श्री आंद्रे लेवी नामक एक युवक विद्वान् विशेष रूप से गुरुकुल के अवलोकन के लिए पधारे। आप लखनऊ विश्वविद्यालय में फ्रैंच भाषा के उपाध्याय हैं। ये फ्रांस के प्रसिद्ध पुराविद् श्री लुई रेनु के शिष्य हैं और बौद्ध साहित्य के अनुशीलन में विशेष दिलचस्पी रखते हैं। अवकाश के दिनों में संस्कृत भाषा सीखने के लिए गुरुकुल में आने का अभिवचन दे गए हैं।

पञ्जाब सरकार के स्वास्थ्य विभाग के सहायक सञ्चालक डाक्टर डी० आर० मेहता ने गुरुकुल में पधार कर आयुर्वेद विभाग का विशेष रूप से निरीक्षण किया और उस के अध्ययन क्रम तथा प्रबन्ध से बहुत प्रभावित हुए। आयुर्वेद परिषद् की ओर से आपका चिकित्साक्रम और मलेरिया के विषय में बोध प्रद व्याख्यान हुआ।

अरविन्द आश्रम पांडचेरी के अन्यतम विद्वान् श्री अम्बालाल बालकृष्ण पुराणी उस दिन कुल में पधारे वाग्वर्धिनी सभा के तत्त्वावधान में भारतीय दर्शन की परम्परा पर उनका एक गम्भीर और विचार पूर्ण व्याख्यान हुआ। सभापति श्री उपाचार्य लाल चन्द जी थे।

लेखक स्नातकों को बधाई

उत्तर प्रदेशीय सरकार की ओर से प्रांत के अनेक साहित्य-स्रष्टाओं को उनकी अभिनव ग्रन्थ कृतियों पर पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। उन में निम्नलिखित तीन सुयोग्य स्नातक बन्धु पुरस्कार के भागी हुए हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय उनका सहर्ष अभिनन्दन करता है।

(क) डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार मसूरी, को उन की पाटलिपुत्र की कथा तथा राजनीति शास्त्र नामक पुस्तकों पर ८००) का पुरस्कार मिला है।

(ख) श्री अत्रिदेव जी विद्यालंकार को उन की 'हमारे भोजन की समस्या भैषज्य कल्पना स्त्रियों का स्वास्थ्य और रोग नामक तीन किताबों पर ६००) रुपये का पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

(ग) श्री रामेश वेदी को उन की लहसुन प्याज, तुलसी, सोंठ, शहद और मिर्च नामक किताबों पर ६००) रुपये का पुरस्कार मिला है।

'गुरु जी' का स्वर्गवास

गुरुकुलीय जगत् के नए पुराने सभी छात्र समस्त स्नातक बन्धु, गुरुजन और कार्यकर्ता यह जान कर बहुत शोकित होंगे कि कुल परिवार के वे पुराण पुरुष पुण्य-

---

की मासिक-पत्रिकाओं का स्तर बहुत नीचा हो गया है। हल्की कहानियों से खाना पूरी का भद्दा अनुकरण बहुत व्यापक हो रहा है। ऐसी अवस्था में 'कल्पना' की दृष्टि और सृष्टि और पाठ्य-सामग्री का मानदण्ड हमें बहुत पसन्द आया है। आनन्द की बात है कि कल्पना सन् १९५२ से मासिक हो चुकी है। हम 'कल्पना' के कल्पकों का इस सुन्दर अनुष्ठान के लिए अभिनन्दन करते हैं। —शंकरदेव।

★

चेता, परम प्यारे और परम श्रद्धेय 'श्री गुरु जी' चान्द्रायण वर्ष के प्रथम दिन (२६ मार्च १९५२ बुधवार) को दिव्यधाम वासी हो गए। अवसान के समय उनका आयुष्य ६० वर्ष का था।

दुनियावी अर्थों में अपनी सामान्य सी योग्यता को ले कर आज से कोई पैंतालीस वर्ष पूर्व वे गुरुकुल में आये। पहले पहल वे भंडार में काम करने लगे। अपने सहकर्मियों को वे रात्रि में चटशाला लगा कर हिन्दी में पढ़ना लिखना सिखाने लगे। पहले पहल वे अपने सहकर्मियों से 'गुरु जी' के नाम से सम्बोधित होने लगे। परन्तु शीघ्र ही अपनी अनुपम ईमानदारी सत्यहृदयता, पवित्रता, साधुता, सरलता और कार्य-निष्ठा से कुलगुरु श्रद्धानन्द जी से ले कर कुलपरिवार एक छोटे से छोटे बालक तक के हृदय को उन्होंने मुग्ध कर लिया और उनका 'गुरु जी' यह उपनाम ही प्रधान नाम बन गया। कुल के एक सदस्य के मन में वे गुरु जी' नाम से बस गये। कुलगुरु श्रद्धानन्द जी तक उन्हें 'गुरु जी' कह कर ही बुलाते रहे। उनका घर का असली नाम रामजालाल तो मानों गुरुकुल प्रवेश के साथ ही सदा के लिए तिरोहित हो गया।

अपना तन मन और प्राण उन्होंने कुल को अर्पित किया हुआ था। जब वे गुरुकुल में प्रविष्ट हुए तब से ले कर अपने अवसान पर्यन्त वे जेब खर्च के लिए केवल तीन रुपये मासिक लेते रहे। उन तीन रुपयों में से भी कुछ कुछ बचा कर उन्होंने कुल की नवीन भूमि में एक कुटिया बनाई जो आज गुरुकुल शिक्षा नगर में 'गुरु जी की कुटिया' के नाम से प्रसिद्ध है।

श्वेत दाढ़ी के बीच में सदा मुस्कराती हुई वह स्नेह और सरलता की भव्यमूर्ति अब भी गुरुकुल के प्रधान पथ पर अपनी चिरसंगिनी लाठी लिए हुए सदा घूमती हुई मानों आंखों के सामने तैर रही है और छात्रों द्वारा 'गुरु जी नमस्ते' कहते कहते ही प्रत्युत्तर में—'नमस्ते महाराज, महाराज नमस्ते'-के मीठे और प्यार दुलार भरे वचनों के पुष्प बरसाती हुई मानों कुल पर पुष्पाभिषेक कर रही है। हृदय को बरबस यही अनुभूति हो रही है।

ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं और उधर उत्सव का मंडप बन रहा है। पर वहां हम निर्व्याज प्रेम और कार्यनिष्ठा की उस पावनी मूर्ति को आज नहीं पा रहे जो गत ४५ वर्षों से प्रतिवर्ष लगातार इसी प्रकार उत्सव मंडप बनवाती रही। कुल के नन्हें-नन्हें बटुक उस वृद्ध मूर्ति को घेरे हुए उमंग और उत्साह से पूछ रहे हैं 'गुरु जी जलसे में कितने दिन बाकी रहे?' पर उन कुतूहलपूर्ण वचनों का प्यार भरा उत्तर देने वाली वात्सल्य मूर्ति नहीं है।

शास्त्रों में पढ़ा हुआ वह वचन गुरु जी के चरित्र द्वारा कृतार्थ हुआ दीख रहा है—स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। अपने काम को ईमानदारी से पूर्ण करना ही प्रभु की पूजा है।

शब्द के अपने सच्चे अर्थों में वे 'पुण्यपुरुष' थे। उस पावनी मूर्ति के अन्तर्भाव पर आज समस्त कुल-वासियों के अश्रु भरे नयन श्रद्धाभरे हृदय और सम्मान-पूर्ण मस्तक उन के प्रति झुके झुके पड़ते हैं। गुरुकुल के इतिहास में पहली बार वह दृश्य दिखाई दिया जब उन की शवयात्रा में कुलपुत्रों ने बाजे बजा कर श्रद्धांजलि अर्पित की। क्योंकि गुरु जी अपने कर्मों से अमरत्व को पा गए थे। उस दिन दाहभूमि में उन की स्मृति में मान्य आचार्य जी ने जब उनके कर्तव्य को 'तपसा ये स्वर्ययुः' के वेदमन्त्र द्वारा श्रद्धा प्रसून चढ़ाए तो समस्त कुलवासी हृदय से अनुभव कर रहे थे कि दुनियावी अर्थों में अति सामान्य योग्यता वाला पुरुष किस प्रकार अपनी कार्यनिष्ठा और चरित्र की पवित्रता

से जीवन की धन्यता का प्रदर्शन कर गया है। कविवर रवीन्द्रनाथ जी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि वे (गुरु जी) अपने यश से भी महान् थे।

प्रसिद्धि के मोह से सर्वथा दूर रह कर कर्तव्य पर समर्पण की पुण्य-गाथा रचने वाले उन प्यारे 'गुरुजी' के चरणों में गुरुकुल-वासियों की शत शत वन्दना।

स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः।

नया प्रकाशन

श्रद्धानन्द स्वाध्याय मञ्जरी के सिलसिले में प्रति वर्ष प्रकाशित होने वाली पुस्तक के रूप में इस साल गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक श्री धर्मदेव जी विद्या-वाचस्पति (सम्पादक सार्वदेशिक दिल्ली) की लिखी हुई वैदिक कर्तव्य-शास्त्र प्रकाशित हुई है। उत्सव के दिनों में गुरुकुल प्रकाशन मन्दिर की दूकान से प्राप्त हो सकेगी।

विज्ञान संग्रहालय

वन भ्रमण करते हुए ब्रह्मचारियों ने एक हाथी की हड्डियां प्राप्त की थीं। अब इन हड्डियों को व्यवस्थित रूप से जोड़ कर एक सुन्दर अस्थिपञ्जर बना लिया गया है। संग्रहालय में इस अस्थिपञ्जर का बन जाना प्रेक्षकों के मनोरञ्जन और कुतूहल का विषय हो गया है।

पुरातत्व संग्रहालय

गुरुकुल संग्रहालय को गत मास देहरादून की वन्य अनुसन्धान-शाला (फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टिट्यूट) से बहुमूल्य सामग्री मिली है। इन में भारतीय जंगलों में पाये जाने वाले कतिपय वृक्षों की लकड़ी के नमूने, उन के उपयोग, उन की बीमारियां तथा प्रतिकारों का समावेश है।

प्रयाग म्यूनिसिपल म्यूजियम के प्राण तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के एग्जक्यूटिव आफिसर श्री युत ब्रजमोहन जी व्यास ने संग्रहालय को अकबर, जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब के १२ सिक्के प्रदान किये हैं तथा भविष्य में संग्रहालय को अन्य उपयोगी सामग्री देने का भी वचन किया है। संग्रहालय इसके लिये उन का आभारी है।

★